I.S.S.N. 0975-6531

यू.जी.सी. केयरलिस्ट में सम्मिलित

वैचारिकी

भारतीय संस्कृति-साहित्य की शोध द्वैमासिकी

जनवरी-फरवरी 2024 * भाग 40 - अंक 1

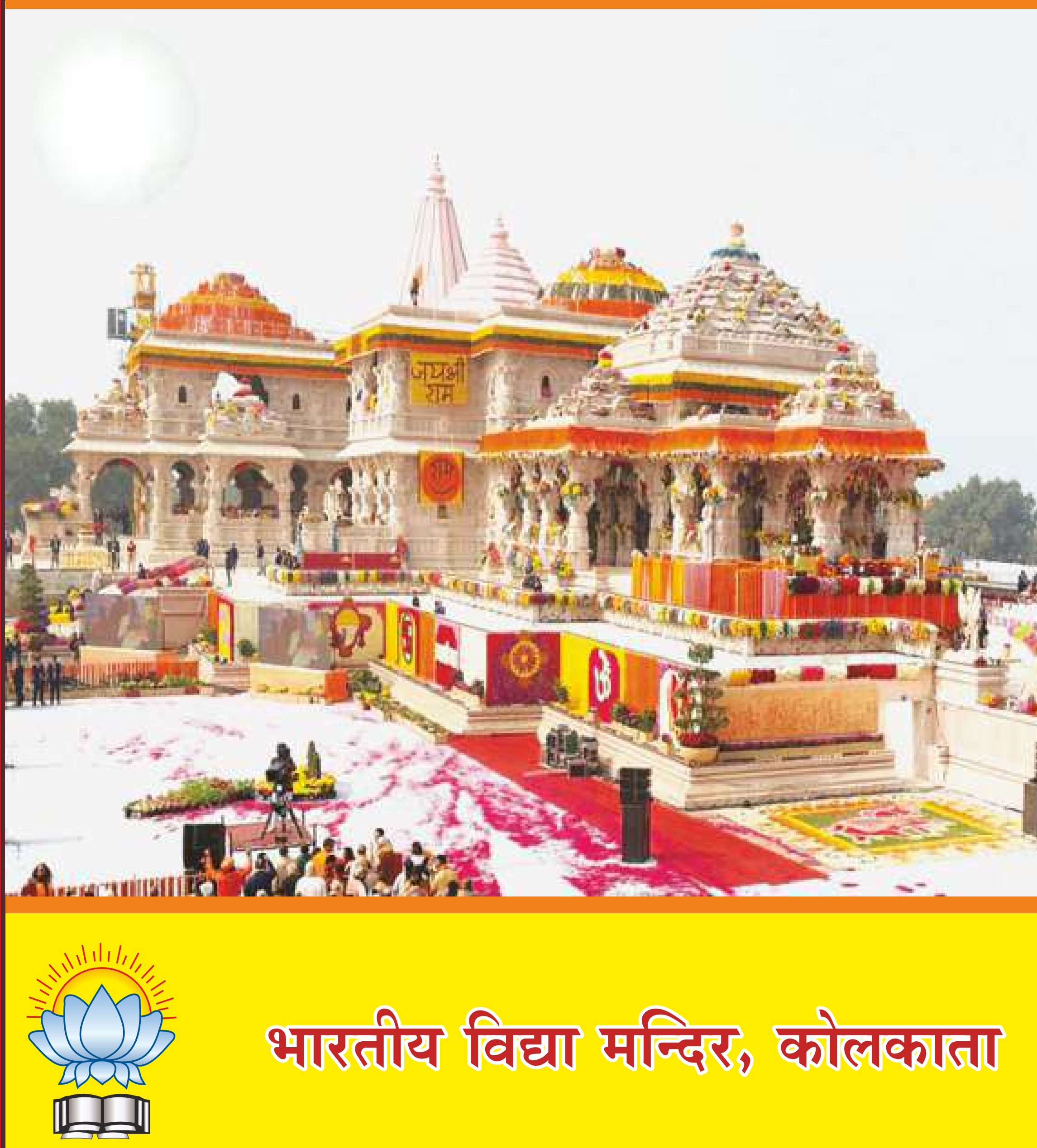

भारतीय विद्या मन्दिर, कोलकाता

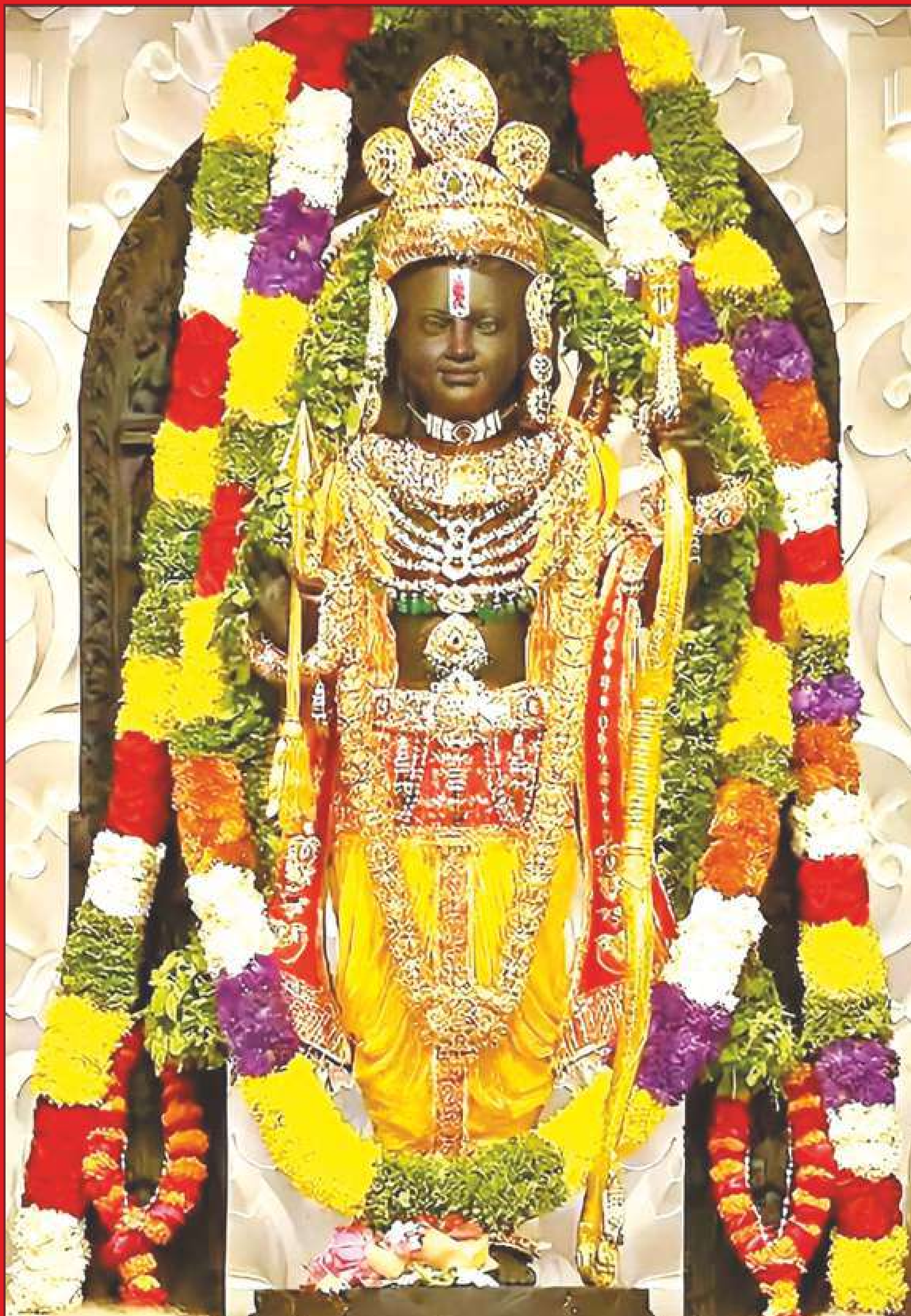

वैचारिकी

भारतीय विद्या मन्दिर की द्वैमासिक शोध पत्रिका

अध्यक्ष-प्रधान सम्पादक

डॉ. बिट्ठलदास मूंधड़ा

सम्पादक

डॉ. बाबूलाल शर्मा

प्रबंध सम्पादक

शंकरलाल सोमानी

योगः कर्मसु कौशलम्

कार्यालय

भारतीय विद्या मंदिर

12/1, नेली सेनगुप्ता सरणी

कोलकाता-700 087

दूरभाष : 033-71001614

मो. : 09830559364

ई-मेल : bvm.vaichariki@gmail.com

Website : www.bharatiyavidyamandir.org

सदस्यता शुल्क

वार्षिक 450/- रुपये

द्वैवार्षिक 900/- रुपये

भुगतान

Payee's Name:

BHARATIYA VIDYA MANDIR

Current A/c No. : 32030320176

Bank : STATE BANK OF INDIA

Branch: New Market

IFSC Code No. : SBIN0004662

ISSN 0975-6531 **भाग : 40 अंक : 1**

वैचारिकी

धर्म-दर्शन-विज्ञान, साहित्य-लोकसाहित्य, इतिहास-पुरातत्व, कला-लोककला

यू.जी.सी. केयरलिस्ट में सम्मिलित

जनवरी-फरवरी, 2024 ईस्वी ✷ पौष कृष्ण 5, फाल्गुन कृष्ण 5, वि. सं. 2079-80 ✷ ₹ 50/-

अनुक्रम

- **अध्यक्षीय** 3
- **संपादकीय** 5
- **हास्य और व्यंग्य : सीमारेखा और विस्तार**
  डॉ. मथुरेश नन्दन कुलश्रेष्ठ 9
- **आचार्य शिवपूजन सहाय का संपादन-कर्म**
  मंगलमूर्ति 17
- **केदारनाथ सिंह की कविता : ग्रामीण-नगरीय बोध की सर्जनात्मक फलश्रुति**
  डॉ. व्यास मणि त्रिपाठी 25
- **आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी : सप्तसूत्रीय समीक्षा के सूत्रधार**
  डॉ. योगेन्द्र नाथ शर्मा 'अरुण' 32
- **भारतीय मेघविज्ञान का प्रामाणिक काव्य मेघदूत**
  डॉ. भावना आचार्य 38
- **रहीम का संस्कृत काव्य**
  डॉ. सत्यव्रत वर्मा 41
- **वर्ण, जाति और आधुनिक भारत की उलझने**
  राकेश भारतीय 46
- **नेपाल-बिहार की कुछ जातियाँ : एक अध्ययन**
  डॉ. हरिकृष्णप्रसाद गुप्त अग्रहरि 53
- **साइबर युग में संप्रभुता का बदलता दर्शन**
  डॉ. मीना रानी 74
- **दक्षिण भारत में शास्त्रीय संगीत के संवर्धन में महिलाओं का योगदान**
  डॉ. एम. शेषन 81
- **पाठक-मंच** 85
  नाग-पंचमी और नाग, राजतरंगिणी में कश्मीर के शासकों की सूची, सुरेंद्र वर्मा कृत 'कैद-ए-हयात' नाटक के मिर्ज़ा ग़ालिब, एक हीरों जड़ा व्यक्तित्व : सर डॉ. सच्चिदानन्द सिन्हा

■ प्रकाशित सामग्री के उपयोग हेतु लेखक-प्रकाशक की अनुमति आवश्यक।

■ प्रकाशित लेखादि में अभिव्यक्त विचारों से प्रकाशक-सम्पादक का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

■ समस्त विवादों के लिए न्यायालय क्षेत्र कोलकाता।

अध्यक्षीय

नोबेल पुरस्कार विजेता भारतीय मूल के लेखक वी. एस. नैपौल ने अपनी प्रसिद्ध भारत-त्रयी की दूसरी पुस्तक 'इण्डियाः अ वूंडेड सिविलाइजेशन' इण्डिया (1977) में भारत को एक घायल सभ्यता के रूप में चिह्नित किया था। सैकड़ों वर्षों के बाद राममंदिर का पुनर्निर्माण और प्रभु रामचंद्र के नए विग्रह की प्राणप्रतिष्ठा का क्षण एक घायल सभ्यता की आत्मा के लिए शीतल विलेप की तरह आया। राष्ट्र के बहुसंख्यक नागरिकों के लिए यह शुभ घड़ी लम्बे समय से दमित आकांक्षाओं के फलीभूत होने का समय है। अतः हम कह सकते हैं कि 22 जनवरी 2024 एक घायल सभ्यता की आत्मा के उपचार का दिन है। भारतीय सभ्यता और सनातन संस्कृति के सभी अंशधारियों, अनुगामियों और प्रशंसकों के लिए यह निस्संदेह एक ऐतिहासिक दिन है।

भारत एक अध्यात्मिक विचार तो है ही, यह विश्व के आर्थिक रंगमंच पर तेजी से उभरती अर्थव्यवस्था भी है। सो यह उत्साह और उभार जागृत और प्रगतिकामी भारत-- रीसर्जेंट इण्डिया- के लक्ष्य और स्वप्न को भी एक पुनर्बलन प्रदान करेगा ऐसा मेरा विश्वास है। कठ उपनिषद् का वह सूत्र वाक्य जिसे स्वामी विवेकानंद ने अत्यंत लोकप्रिय बनाया, हमारा मूल मंत्र होना चाहिए : *'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत। क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।।'*

श्रीपाद दामोदर सातवलेकर इस मंत्र की व्याख्या इस प्रकार करते हैं-- 'उठो जागो और श्रेष्ठ ज्ञानियों के पास जाकर ज्ञान प्राप्त करो। ज्ञान के बिना इस जगत में कुछ भी उन्नति साध्य नहीं हो सकती। यह आत्मज्ञान और आत्मोन्नति का मार्ग अत्यंत कठिन है वैसे ही जैसे तलवार की तीक्ष्ण धार पर चलना। इस पथ पर संभलकर चलना चाहिए, पथ से थोड़ा भी डिगे तो पतन हो जाएगा। सब ज्ञानी इस मार्ग का ऐसा ही वर्णन करते आए हैं। सदा सावधान रहना चाहिए। उठो जागो, यहाँ सोने से काम नहीं चलेगा।'

ऐसा प्रतीत होता है जैसे यह राष्ट्र अंगड़ाई लेकर जाग रहा है और भारत नई सुबह की उम्मीद लिए तेजी से विकासोन्मुख है। प्रगति की ओर अग्रसर है। कहते हैं कि भारतवर्ष केवल ज्ञान में ही आगे नहीं था, आर्थिक रूप से भी विश्व की एक तिहाई समृद्धि इसी भारत-

भूमि में थी। भारत फिर से उस ऊँचाई पर पहुंचने का स्वप्न देख रहा है। अब हमें अपना लक्ष्य प्राप्त करने तक रुकना नहीं है।

X X X X X X

पिछले दिनों मुझे बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के वेद विज्ञान विभाग द्वारा आयोजित संगोष्ठी में सम्मिलित होने का अवसर मिला। वेद और विज्ञान विषय पर केंद्रित इस संगोष्ठी में मैंने जो विचार व्यक्त किये उन्हें क्रमशः प्रस्तुत करना उचित होगा।

ज्ञान के अर्थ में संस्कृत की 'विद्' धातु से वेद शब्द की निष्पत्ति होती है। जिसका अर्थ होता है ज्ञान। यह ज्ञान समस्त लौकिक और आध्यात्मिक ज्ञान का स्रोत है। वेद ऋषियों द्वारा दृष्ट मन्त्रों का संग्रह है। वेद वहुत विस्तृत हैं। वेद के चार प्रकार हैं-- संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्। संहिता में मन्त्रों का संकलन है। संहिता चार हैं जैसे ऋक, साम, यजु, और अथर्व। ऋकसंहिता में मुख्य रूप से स्तुतिपरक मन्त्रों का संग्रह किया गया है। सामसंहिता में गायनपरक मन्त्रों का संग्रह किया गया है। यजुसंहिता में गद्यात्मक मन्त्रों का संग्रह है तथा विशेषकर यज्ञ सम्पन्न करने की प्रक्रियाओं का वर्णन है। अथर्वसंहिता में उक्ततीनों प्रकार के लक्षणों से युक्तमन्त्रों का संग्रह मिलता है। अथर्व संहिता में तंत्र और यंत्र आदि का भी वर्णन मिलता है। कहा जाता है कि अथर्ववेद को बाद में शामिल किया गया है। प्रत्येक संहिता के अलग-अलग ब्राह्मण ग्रंथ, आरण्यक ग्रंथ और उपनिषद् ग्रंथ हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय यज्ञ का विधि-विधान है। इसके दो प्रमुख भाग हैं-- यथा विधि और अर्थवाद। यज्ञ का अनुष्ठान कब किया जायेगा और कैसे किया जायेगा तथा उसमें किन-किन साधनों की आवश्यकता होती है, इत्यादि विषयों का समाधान विधि के अन्तर्गत आता है। तथा अर्थवाद में निषिद्ध वस्तुओं की निन्दा और यज्ञोपयोगी वस्तुओं की प्रशंसा का सन्निवेश होता है। आरण्यक ग्रन्थ का मुख्य प्रतिपाद्य विषय यज्ञों में निहित आध्यात्मिक तत्त्वों की मीमांसा करना है। इस प्रकार के ग्रन्थों के पढ़ने तथा मनन करने का उपयुक्त स्थान अरण्य का एकान्त और शान्त वातावरण है। इसीलिए इन ग्रंथों का नाम आरण्यक हुआ। उपनिषद् वेद का अन्तिम भाग है। इसीलिए इसे वेदान्त भी कहा जाता है। उपनि उपसर्ग के साथ षद् धातु जोड़कर उपनिषद् शब्द की निष्पत्ति होती है। जिसका अर्थ है गुरु के समीप बैठकर अपने अज्ञान रूपी अंधकार को दूर करते हुए ब्रह्मविद्यारूपी प्रकाश को प्राप्त करना।

उपर्युक्त के अतिरिक्त भी वेदों के छह अंग हैं। जैसे कि शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्योतिष। तथा इनके साथ चार उपवेद भी हैं: गांधर्ववेद, आयुर्वेद, धनुर्वेद तथा इतिहास।

इस प्रकार वैदिक साहित्य का कलेवर अत्यंत बृहत है। यह हुआ वैदिक साहित्य का सामान्य परिचय और अगले अध्यक्षीय में मैं वेद और विज्ञान विषय पर अपने विचार आपसे साझा करूंगा।

- डॉ. बिट्ठलदास मूंधड़ा

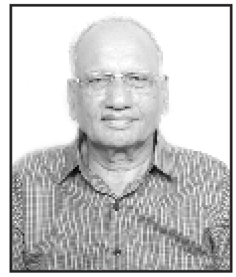

संपादकीय

बौद्धिक ध्रुवीकरण और भारतीयता

बुद्धि अन्तःकरण की वह वृत्ति है जो विकल्पों को संकल्पों में बदलकर व्यक्ति की वैचारिकता, मान्यताओं और आचरणों का निश्चय करती है। इससे व्यक्ति के सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, साहित्यिक, कलात्मक इत्यादि जीवन के विभिन्न सरोकार निर्मित होते हैं। अन्तःकरण की इस वृत्ति का अथवा बौद्धिक ध्रुवीकरण से तात्पर्य यह है कि किसी बौद्धिक निष्कर्ष के प्रति व्यापक मान्यता और फिर उस मान्यता को संगठित रूप देना और उसे साग्रह महान परंपरा कहा जाना। बौद्धिक ध्रुवीकरण अंततः दुराग्रह तक मान्यता अथवा जीवन-मूल्य या माप-दण्ड बन जाता है जो विचारों-आचरणों की स्वीकृति या अस्वीकृति का आधार बन जाता है।

सर्वाधिक बौद्धिक ध्रुवीकरण कथित धार्मिकताओं को लेकर हुआ है, जो प्रकारांतर से सांस्कृतिक ध्रुवीकरण भी है। इसकी सर्वाधिकता इसलिए है कि इससे लोक या समाज बहुत जल्दी और व्यापक रूप से जुड़ जाता है। प्रारंभ में ऐसे ध्रुवीकरण का कारण तत्कालीन परिस्थितियों में तार्किक मार्गदर्शन की बौद्धिकता होती है, परंतु फिर अंधानुकरण के कारण उसका ध्रुवीकरण होने लगता है, क्योंकि लोग उसके औचित्य, उपयोगिता आदि को लेकर विवेकशील नहीं हो पाते, उस पर केवल प्रभाव होता है और वह अनुकरण का सुगम मार्ग अपनाता है। अनुकरण, ध्रुवीकरण की प्रक्रिया को तीव्र करता है। यह बौद्धिक ध्रुवीकरण धर्म ही नहीं अपितु क्षेत्र, भाषा, साहित्य, राजनीति, सामाजिकता, आर्थिकता आदि को लेकर भी हो जाता है।

बौद्धिक ध्रुवीकरण के प्रचंड उदाहरण के रूप में 2000 से अधिक वर्ष पूर्व ईसा-मसीह द्वारा तत्कालीन परिस्थितियों में मनुष्यों के हित के लिए बताये मार्गदर्शन के अनुकरण से प्रवर्तित सलीबी अथवा ईसाई धर्म के रूप में, और फिर लगभग 1500 वर्ष पूर्व पैगम्बर मुहम्मद द्वारा बताये मार्गदर्शन के अनुकरण से प्रवर्तित इस्लाम धर्म को लिया जा सकता है। इन दोनों के मार्गदर्शनों ने निश्चित ही, जहां ये पैदा हुए वहां के तत्कालीन समाज को एक नई रोशनी देने का कार्य किया। परंतु फिर इनके इर्द-गिर्द हुए बौद्धिक ध्रुवीकरण ने मानव इतिहास को लहू-लुहान कर दिया। यह अद्भुत है कि पश्चिम में हुए बौद्धिक ध्रुवीकरणों में

ही अन्य किसी भी बौद्धिकता का नकार, खून-खराबे वाली क्रूर कट्टरता की हद तक होता है, वह चाहे धार्मिक हो, सामाजिक हो या राजनैतिक हो? यूरोप में तो धार्मिकता की अति और उसके सामने मनुष्य की घोर उपेक्षा अथवा तुच्छता से तंग आकर 'मानववाद' और फिर 'नव-मानववाद' की बौद्धिकता ने व्यापक समर्थन प्राप्त किया। परंतु इस्लाम में धर्म के सामने मनुष्य की यह तुच्छता अभी भी बनी हुई है और इसमें कथित धार्मिकता के बरक्स मानवता को स्थान नहीं है। इसी क्रम में पश्चिम में ही पैदा हुआ कोमनिज्म अथवा साम्यवाद भी बौद्धिक ध्रुवीकरण का प्रचंड उदाहरण है। ये तीनों ही तीन व्यक्तियों की विभिन्न बौद्धिकताओं के परिणाम हैं, जिनको लेकर हुए लोगों के बौद्धिक ध्रुवीकरणों ने मनुष्य को समस्त जीवों और प्रकृति का निर्दय भोक्ता घोषित कर, अपनी-अपनी बौद्धिकता के सामने किसी भी अन्य बौद्धिकता वाले लोगों को मार देने को भी उचित घोषित कर दिया। वैसे, एक बुद्धिजीवी से आशा की जाती है कि वह किसी भी ध्रुवीकरण से अलग चीजों को सटीक एवं उदार दृष्टि से देखे और सर्वहित में अपना मत दे। आइंस्टीन का मत है कि सत्ताधारी हठधर्मिता का विरोध ही रचनात्मक बौद्धिकता है। वस्तुतः एक बुद्धिजीवी के सृजनात्मक कर्मों में समाज एवं समय की संवेदना प्रतिबिंबित होनी चाहिए।

इस प्रसंग में भारत को देखें तो यहां बौद्धिक ध्रुवीकरण की किसी भी चेष्टा को सफलता नहीं मिली, इसलिए कि यहां सदियों से, पता नहीं कहां-कहां से लोग आये और बसते गये। यहां भी बौद्धिक ध्रुवीकरण के सबसे सॉफ्ट घटक धर्म से संबंधित प्रवर्तन हुए परंतु कुछ समय बाद ही वे यहां की सनातन धार्मिक परंपरा के एक संप्रदाय बनकर रह गये।

वर्तमान समय में भारत में बौद्धिकता के भारतीयकरण की मांग आग्रहशीलता से हो रही है। अथवा भारतीयता को एक विशिष्ट पहचान देने की चेष्टा हो रही है। वस्तुतः वर्तमान भारतीय बुद्धिजीविता का विकास भारत के औपनिवेशिक अतीत में अंग्रेजों के संसर्ग एवं अंग्रेजी के माध्यम से हुआ और स्वतंत्रता प्राप्ति के सात से अधिक दशकों के बाद भी हम अभी तक इसका देशीकरण नहीं कर पाये हैं। यद्यपि हम भारतीयों की प्रवृत्ति स्वयं को और अन्य सभ्यताओं-संस्कृतियों को जानने में रुचि नहीं रही, तथापि यहां महान बौद्धिकता विकसित हुई, परंतु सदियों की गुलामी के कारण भारत का बौद्धिक ढांचा अपने समृद्ध अतीत से कट गया और पश्चिम ही हमारे लिए बौद्धिकता अथवा ज्ञान का एकमात्र स्रोत रह गया। भाषा, रहन-सहन, शिष्टाचार-व्यवहार इत्यादि जैसे सांस्कृतिक घटकों को लेकर भी हम अपने औपनिवेशिक अतीत पर निर्भर हैं। अभी तो बड़ा प्रश्न है कि इतिहास का भारतीयकरण किया जाये, क्योंकि हमारे यहां तो इतिहास लिखने की परंपरा ही नहीं थी और फिर औपनिवेशिक काल में भारत का जो इतिहास लिखा गया वह अंग्रेज विद्वानों के द्वारा लिखा गया तथा पुरातत्व एवं भारतीय संस्कृति के अन्य घटकों का अनुसंधान भी अंग्रेजों के द्वारा ही हुआ। यह तथ्य है कि ऐसे अनुसंधानों में हमारी कोई रुचि नहीं थी। अभी जब इतिहास के भारतीयकरण के प्रयास होने लगे हैं तो कहा जा रहा है कि अंग्रेजों के बाद भारतीय इतिहास के भारतीय लेखक अधिकांश कोमनिस्ट हैं, वे भारतीय दृष्टि नहीं रखते हैं। परंतु भारतीयकरण के प्रयासों में स्पष्ट नहीं हो रहा है कि भारतीयता से क्या मतलब है और ऐतिहासिक तथ्यों का भारतीयकरण कैसे होगा? इस प्रसंग में हम कबीर, स्वामी दयानंद सरस्वती, राजा राममोहन राय इत्यादि बौद्धिकों को ले सकते हैं, जिन्होंने धार्मिक-सामाजिक पाखंडों, कुप्रथाओं, शोषण इत्यादि का विरोध किया, जबकि यह सब परंपरा से भारतीयता के अंग रहे।

भारतीय बौद्धिकता का अर्थ तो होना चाहिए कि उसमें भारतीय संस्कृति और बौद्धिक परंपरा का ज्ञान समाहित हो। पहले इंडोलॉजी की खोज पाश्चात्य दृष्टि से हुई और अब हिन्दुत्ववादी दृष्टि से भी प्रयास हो रहे

हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भारतीय संस्कृति के वैविध्य को एक महासागर के रूप में देखा। इस वैविध्य के चलते इसको किसी एक दृष्टि से व्याख्यायित करना संभव नहीं है। मुश्किल यह है कि इस विविधात्मक संस्कृति को समझने के लिए उदार दृष्टि की आवश्यकता है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन एवं डॉ. रामविलास शर्मा जैसे बौद्धिकों द्वारा अपने विराट भारतीय परंपरा-बोध के चलते जब इसको व्यावहारिक दृष्टि से व्याख्यायित किया गया तो तत्काल साम्यवादियों ने उनको हिन्दुत्व का पक्षधर घोषित कर दिया। हालांकि ये साम्यवादी समय-समय पर अपनी व्यावहारिक चतुरताओं का परिचय देते रहते हैं। जयपुर में साम्यवादियों अथवा प्रगतिशीलों द्वारा आयोजित एक लिट्रेचर फेस्टिवल में प्रख्यात लेखक सलमान रुश्दी को सादर आमंत्रित किया गया परंतु फिर आने से रोक दिया गया। मुस्लिम साम्प्रदायिकता के सामने इन सारे प्रगतिशील बुद्धिजीवियों की बुद्धि कुंठित हो गई और वे रिरियाने लगे। अतः भारतीय बौद्धिकता के इस संकट का प्रश्न साम्प्रदायिकता के संबंध में महत्वपूर्ण है। हमारे बुद्धिजीवियों का एक संकट है, उनका दोहरा चरित्र, कि वे जो कहते-लिखते हैं वैसा नहीं करते। जैसे प्रजातंत्र, नारी स्वातंत्र्य, जाति-प्रथा का विरोध, दलितों के हित में त्याग के संबंध में लिखने मात्र से हटकर जब कुछ करने की बात होती है तो वे खींसें निपोरकर व्यावहारिक हो उठते हैं। जैसे प्राचीन समय में व्यावहारिक होकर बौद्धिक घोषित किया करते थे कि राजा को राज करने का अधिकार ईश्वर से प्राप्त हुआ है, जबकि ऐसा नहीं था, यह अधिकार तो उसे जनता से अथवा उसके अपने बाहुबल से प्राप्त होता था। ऐसी व्यावहारिकता के कारण ही गत दो दशकों में वामपंथियों का प्रभाव घटा है और दक्षिणपंथियों का प्रभाव बढ़ा है।

बौद्धिक ध्रुवीकरण का एक महत्वपूर्ण पक्ष है - धर्मांतरण। एक धर्म से दूसरे धर्म को स्वीकार करना धर्मांतरण है, लेकिन हिन्दू में धर्मांतरण जैसा कोई विचार नहीं है। जिसे हिन्दू धर्म कहा जाता है, वस्तुतः वह एक सनातन संस्कृति है, जिसका मूल चरित्र है जीवन जीओ, स्वयं जीओ, औरों को भी जीने दो, जिन्दगी जश्न है, सब मिलकर जीओ, मनुष्यों सहित सब जीवों के साथ, समस्त प्रकृति के साथ। यह संसार कैसे बना, किसने बनाया, क्यों बनाया, यह सब चिंतन करना तुम्हारा काम नहीं। तुम हुए हो, तुम हो, जब तक संभव हो, इस होने को बनाये रखो। इस सारे मसले में किसी भगवान या ईश्वर की कष्ट कल्पना क्यों कर रहे हो। तुम अपने आचरण से मनुष्य बने रहो, चाहो तो भगवान भी बन सकते हो ! इस हिन्दू या सनातन में तो *धृतिः क्षमा दमोस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम्।* अर्थात धैर्य, क्षमा, संयम, चोरी न करना, स्वच्छता, इन्द्रियों का निग्रह, शुद्ध बुद्धि, विद्या, सत्य, अक्रोध - ये धर्म के दस लक्षण हैं। साथ ही कहा गया- *अहिंसा परमो धर्मः।* अहिंसा परम धर्म है अर्थात किसी के प्रति हिंसक व्यवहार न करें तथा *न हि प्राणात् प्रियतरं लोके किंचन विद्यते। तस्माद् दयां नरः कुर्यात् यथात्मनि तथा परे* अर्थात जगत में अपने प्राण से अधिक प्रिय कोई वस्तु नहीं है और इसके लिए मनुष्य जिस प्रकार अपने लिए दया चाहता है उसी तरह दूसरों पर दया करे। धर्म उचित अनुचित का भेद बताता है। उचित क्या है और अनुचित क्या है, यह देश, काल और परिस्थिति पर निर्भर करता है। हिन्दुत्व की दृष्टि में यही धर्म है, ईश्वर या किसी देवता की उपासना धर्म नहीं है। ईश्वर पर कट्टर विश्वास एवं आस्था अंततः अनैतिकता को जन्म देती है। इस विश्वास एवं आस्था पर बौद्धिक ध्रुवीकरण के कारण आदमी यह सोचकर कुकर्म में प्रवृत्त हो जाता है कि मैं तो ईश्वर की भक्ति कर ही रहा हूं तो वह मेरे कुकर्मों को क्षमा कर देगा। जबकि सत्य तो यह है कि कर्म तो अपना फल देंगे ही, इसमें ईश्वर का हस्तक्षेप नहीं है। हां, ईश्वर को मानना ही चाहो तो कह सकते हैं कि कर्मों का फल ईश्वर देता है। मृत्यु बाद के भय या मजे बताकर ईश्वर को मनवाना और उसके नाम पर मरना-मारना, धर्म कैसे है भाई !

अपने धार्मिक-क्षेत्रीय-सांस्कृतिक वैविध्य के लिए विश्वभर में हिन्दू नाम से मशहूर यह समाज कभी राष्ट्रीयता या देशीयता के लिए प्रयुक्त था अर्थात जो हिन्दुस्तान नामक देश का रहने वाला है वह हिन्दू है। पता नहीं कब हिन्दू में से जैन, बौद्ध, सिख, मुसलमान आदि अलग कर दिए गए और हिन्दू को एक धर्म विशेष कहा जाने लगा, जिसे अब सनातन धर्म कहा जा रहा है। वस्तुतः तो यह कई धर्मों का एक समूह है। इसकी उदारता सहिष्णुता और दूसरों के धर्म के प्रति भी आदर के बावजूद मुसलमानों व सिखों में से कट्टर धार्मिक लोग इसके दुश्मन बने हुए हैं। अपने बिखरेपन से बेखबर हिन्दू को यह भी स्मरण नहीं है कि उसके कथित वैविध्य ने उसे बाहरी आततायियों के सामने शक्तिहीन होकर उनकी गुलामी के लिए विवश किया था। अतः अपनी विविध पक्षीय उदार बौद्धिकता को बचाने के लिए चाहे हम बौद्धिक ध्रुवीकरण की कट्टरता नहीं अपनाएं परंतु जरूरी हो गया है कि अपनी राष्ट्रीय एकता, राष्ट्रीय पहचान को मजबूत करें। यह सही है कि भारत के बौद्धिक और सामाजिक-धार्मिक ढांचे में कट्टरता का स्वभाव नहीं है, परंतु विजातीय कट्टरताओं से मुकाबले के लिए और राष्ट्रीय एकता के लिए इसे एक मध्यवर्ती तथ्य के रूप में स्वीकार करना आवश्यक लग रहा है। प्राकृतिक रूप से स्वाभाविक वैविध्य, सहिष्णुता, उदारता जैसी हिन्दुत्व की परम विशेषताएं उसे महान मानवीय मूल्य देते हैं, उसे कट्टर नहीं बनाते, परंतु जिहाद जैसी धार्मिकताओं ने इसके अस्तित्व को ही चुनौती दे दी है, उसका बिखरापन उसके लिए खतरा बन गया है। ब्राह्मणों, क्षत्रियों एवं वैश्य वर्णों में बौद्धिक ध्रुवीकरण हुआ यद्यपि वह आजीविकापरक अथवा व्यवसायपरक था और वैसा नहीं था जैसा पश्चिम में हुआ, परंतु इसने सामाजिक एवं राष्ट्रीय एकता को नहीं बनने दिया।

- डॉ. बाबूलाल शर्मा

आसक्ति का सर्वथा त्याग

भगतिहि ग्यानहि नहिं कछु भेद।

एक ज्ञानी हो तो बहुत से ज्ञानी बन जाते हैं। जैसे एक दीपक हो तो उससे अनेक दीपक जल सकते हैं। बत्ती और तेल होना चाहिए, श्रद्धा बत्ती है एवं प्रेम (स्नेह) तेल है -- इन दोनों की आवश्यकता है। चाहे दीपक न हो बत्ती हो तो प्रकाश हो जायेगा। अतः श्रद्धा-प्रेम होना चाहिए। हर एक आदमी को यह ध्येय बना लेना चाहिए कि परमात्मा की प्राप्ति हीनी चाहिए। शुद्ध भाव बहुत जल्दी काम करता है। स्वार्थ की प्राप्ति होनी चाहिए। शुद्ध भाव बहुत जल्दी काम करता है। स्वार्थ को लेकर साधन करे तो ज्यादा समय में काम बने। स्वार्थ परमार्थ में लांछन लगानेवाला है। प्रेम में स्वार्थ आया तो प्रेम नहीं, वह कलंक है। आदमी को चाहिए कि ईश्वर के साथ या अपने आपस में स्वार्थ का संबंध हो तो स्वार्थ को निकाल दें। आत्मा के कल्याण का स्वार्थ बड़ा अच्छा है। दूध में जितना पानी होगा, उतना समय पानी जलने में लगेगा। अतएव स्वार्थ-आसक्ति की मात्रा की अधिकता होने से स्तया में समय अधिक लगेगा।

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्‌गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ।। (गीता : 4-20)

जो पुरुष समस्त कर्मों में और उनके फल में आसक्ति का सर्वथा त्याग करके संसार के आश्रय से रहित हो गया है और परमात्मा में नित्य तृप्त है, वह कर्मों में भलीभाँति बर्तता हुआ भी वास्तव में कुछ भी नहीं करता।

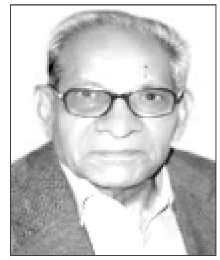

हास्य और व्यंग्य : सीमारेखा और विस्तार

डॉ. मथुरेश नन्दन कुलश्रेष्ठ

भरत कृत 'नाट्यशास्त्र' में जिन आठ रसों को स्वीकार किया गया है, उनमें हास्यरस का स्थान दूसरा है[1] परंतु यह क्रम रसों के महत्व के आधार पर निर्धारित नहीं किया गया है। यद्यपि भरत ने रसों की संख्या आठ मानी है तथापि मूल रूप में उन्होंने केवल चार को ही स्वीकृति दी है। उनके अनुसार शृंगार से हास्य की, रौद्र से करुण की, वीर से अद्‌भुत की तथा वीभत्स से भयानक की उत्पत्ति होती है।[2] यद्यपि शृंगार से हास्य की उत्पत्ति की व्याख्या विभावादि के आधार पर अन्य विद्वानों ने भी की है[3] परंतु जो स्थापना स्पष्ट होकर सामने आती है वह यह है कि 'नाट्यशास्त्र' के आधार पर हास्य मूल रस नहीं है। हास्य रस के वर्णन में भी न तो भरत ने उसे अधिक स्थान दिया है, न उसे अधिक महत्व दिया है। हास्यरस के दो भेद आत्मस्थ और परस्थ किये गये हैं। इन भेदों के आशयों पर भी मतभेद हैं। स्वयं में स्थित विभावों के आधार पर 'जब विदूषक स्वयं हँसता है तो आत्मस्थ और दूसरों को हँसाता हो तो वह परस्थ होता है', इस व्याख्या को विद्वान स्वीकार न करते हुए उसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि जब विभावादि को स्वयं देखकर हँसते हैं तो आत्मस्थ भेद होता है और जब हँसनेवालों को देखकर हँसते हैं तो परस्थ भेद होता है। तात्पर्य यह कि ये भेद हास्यरस की संक्रमणशीलता के आधार पर किये गये हैं। इसके आगे भरत ने इसके जिन छः भेदों का वर्णन किया है, आलोचक का व्याख्याकार उन छः भेदों को हास्यारस के भेद न मानकर परस्थ हास्यरस के भेद मानते हैं। हास्यरस के स्वरूप का वर्णन करते हुए, उसका स्थायीभाव हास माना गया है और उसकी प्रस्तुति इस प्रकार की गई है -

विपरीतालंकारैर्विकृताचाराभिधानवेषैश्च।
विकृतैरंगविकारैर्हसतीति रसः स्मृतो हास्यः।।
विकृताचारौर्वाक्यैरंगविकारैश्च विकृतवेषैश्च।
हासयति जनं यस्मात्तस्माज्ज्ञेयो रसो हास्यः।।
स्त्रीनीचप्रकृतावेष भूपिष्ठं दृश्यते रसः।
षडभेदाश्चास्य विज्ञेयास्तांश्च वक्ष्याम्यहं पुनः।।
स्मितमथ हसितं विहसितमुयाहसितं चापहसितमति हसितय्।
(द्वौ-द्वौ भेदौ स्यातायुत्तममध्याधमप्रकृतौः।। नाट्यशास्त्र 6.50-53)।

अर्थात विपरीत स्थान पर अलंकारों का धारण करने, विकृत व्यवहार, वाक्य तथा वेष के प्रदर्शन करने और विकृत अंगों तथा चेष्टाओं द्वारा हँसाने पर हास्य कहलाता है। क्योंकि यह अपने अंगों (विकारों) तथा वाक्य, अंगों की प्रक्रियाओं एवं विकृत वेषादि द्वारा मनुष्यों को हँसाता है अतः हास्य कहाता है। यह रस अधिकांश में स्त्री तथा नीच पुरुषों में अधिक दिखाई देता है। हास्य के छः भेद हैं -1. स्मित 2. हसित 3. विहसित 4. उपहसित 5. अपहसित तथा 6. अतिहसित।

उक्त वर्गीकरण को भरत ने उत्तम, मध्यम तथा नीच प्रकृति के मनुष्यों से सम्बद्ध किया है। प्रथम दो भेद उत्तम प्रकृति के मनुष्यों का स्वभाव, द्वितीय दो (विहसित, उपहसित) का स्वभाव मध्यम मनुष्यों का बताया गया है जबकि अंतिम दो (अपहसित और अतिहसित) अधम प्रकृति का स्वभाव कहा गया है। आगे चलकर भरत ने इस रस को पुनः दो भागों में- 1. आत्मसमुत्थ तथा 2. परसमुत्थ के रूप में विभक्त किया है जो तीन प्रकृति के मनुष्यों में विभक्त होकर छः प्रकार का और पुनः आत्मस्थ तथा परस्थ के आधार पर विभाजित होकर यह हास्य रस 12 प्रकार का हो जाता है।[4] यह विभाजन भी विस्तृत व्याख्या की मांग करता है। भरत का यह विवेचन और विभाजन नाटक में हास्यरस को कोई सम्मानजनक स्थान देता नहीं प्रतीत होता। इस विवेचन का सारांश यही है कि इसकी उत्पत्ति विकृत व्यवहार और स्वरूप से होती है, यह एक संक्रमणशील रस है तथा इसके छः भेद होते हैं जो आश्रय की प्रकृति के आधार पर और आगे बढ़ते हैं। इसकी ओर आर्कषित होने वाले अधिकांशतः स्त्रियाँ और नीच लोग होते हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी हास्यरस को कोई सम्मानजनक स्थान देने के लिए तैयार नहीं हैं। प्रथमतः उन्होंने सभी प्रकार हँसी को हास्य नहीं माना है। काव्य में जिस हास को स्थान दिया गया है, वह ऐसा हास है जिसके आश्रयगत होने पर श्रोता या दर्शक को भी हास की अनुभूति होती है। यों हीं प्रसन्नता के कारण (जैसे शत्रु के विरुद्ध अपनी सफलता पर) जो हँसी आती है, वह भाव की कोटि में नहीं आती। वह मन की उमंग या शरीर का व्यापारमात्र है। उसके प्रदर्शन से श्रोता या दर्शक के हृदय में हास की अनुभूति नहीं होती।[5] उन्होंने हास्यरस की प्रकृति के विषय में जो महत्वपूर्ण बिन्दु प्रस्तुत किया है वह इस प्रकार है - 'हास और आश्चर्य दोनों लक्ष्यहीन होने के कारण किसी भी प्रकार की इच्छा, संकल्प या प्रयत्न की ओर प्रवृत्त नहीं करते।' इसी से उनके द्वारा जो मनोरंजन होता है, वह विश्राम स्वरूप जान पड़ता है।[6] यद्यपि हास्य के विषय में अनेक अन्य काव्यशास्त्रियों ने भी बहुत कुछ कहा है और आधुनिक युग में शोध-प्रबंध लिखनेवालों ने तो हास्य को ही एकमात्र रस मानने का आग्रह करते हुए उसका पक्ष लिया है परंतु व्यंग्य के परिप्रेक्ष्य में हास्यरस के विवेचन में यहाँ इतना और जोड़ा जा सकता है कि हेमचंद्र ने अपने ग्रंथ 'काव्यानुशासन' में चित्त के विकास को 'हास' कहा है - 'चेतसो विकासो हासः'[7] भानुदत्त ने विकृति के साथ कौतूहल का भाव भी जोड़ दिया है - 'कुतूहलकृतवचनचेष्टावेषवैसादृश्य कृतो विनोद-पूर्णः मनोविकारः हास्यः'।[8] शारदातनय ने भी हेमचंद्र की तरह चित्त में आनंद के विशेष विकास को हास्य माना है - 'प्रीतिर्विशेषस्यचित्तस्य विकासो हास उच्चते।'[9]

भारतीय काव्यशास्त्र में 'व्यंग्य' एक विशिष्ट पारिभाषिक शब्द है जो आनंदवर्द्धन द्वारा स्थापित ध्वनिसिद्धांत का मूल तत्व है। व्यंग्य का तात्पर्य है व्यंजना द्वारा प्राप्त अर्थ। व्यंग्यार्थ ध्वन्यर्थ का वाची है, इसे प्रतीयमान अर्थ या अन्यार्थ भी कहा जाता है। मुख्यार्थ या अभिधेयार्थ से प्राप्त अन्य अर्थ व्यंग्यार्थ कहलाता है। आनंदवर्द्धन ने अपने ग्रंथ ध्वन्यालोक में अन्यार्थ या प्रतीयमानार्थ को परिभाषित करते हुए

'ध्वनिरात्मा काव्यस्य' की घोषणा की है।[10] अपने इस अर्थ में प्रत्येक वह रचना जो ध्वन्यर्थ का प्रतिपादन करती है 'व्यंग्य' है और यह व्यंग्यार्थ वस्तु ध्वनि और अलंकार को समाहित करने वाला तीन प्रकार होता है। अपने इस व्यापक अर्थ में व्यंग्य शब्द साहित्य की समस्त विधाओं और श्रेष्ठ रचनाओं को अपने में समाहित करता है। व्यंग्यार्थ किस प्रकार शब्द, वाक्य, प्रकरण और सम्पूर्ण प्रबंध में व्याप्त है, इसकी विस्तृत विवेचना संस्कृत काव्यशास्त्र के आनंदवर्द्धन, मम्मट, अभिनवगुप्त आदि ने की है परंतु आज 'व्यंग्य' विधा को जिस रूप में प्रस्तुत और चर्चित किया जा रहा है, ध्वनि या प्रतीयमान अर्थ उसका अपरिहार्य तत्त्व होते हुए भी, अपने आपमें एक विशिष्ट सामाजिक सरोकार समेटे हुए ऐसा साहित्य है जो सामाजिक विकृतियों के उद्घाटन और सामाजिक उद्देश्य से मण्डित है। ध्वनि का वर्ण्य-विषय वस्तु, अलंकार और रस के रूप में स्थापित है परंतु आज के प्रचलित अर्थ में 'व्यंग्य' वस्तुध्वनि ही है जो सामाजिक आक्रोश विक्षुब्धता विसंगति और विडम्बनाओं को वाग्वैग्ध्य के रूप में प्रस्तुत करता है, उन पर चोट करता है, उन पर हँसता है। उसकी दृष्टि न्याय पर होती है। सामाजिक यथार्थ को प्रस्तुत कर वह नैतिकता की रक्षा करने का प्रयास करता है। सामाजिक यथार्थ का चित्रण, संवेदनशीलता, गंभीरता, बौद्धिकता, प्रौढ़ भाषा, सांकेतिकता और तटस्थता उसके तत्व होते हैं। राजनीति, शिक्षा, व्यापार, कला साहित्य, समाज के विविध रूप, सब कुछ उसके वर्ण्य-विषय की परिधि में आते हैं। यहाँ तक कि लेखक या कवि स्वयं को भी उसके वर्ण्य-विषय के रूप में प्रस्तुत करता है और कर सकता है। बाबू गुलाबराय (मेरी असफलताएँ) और काका हाथरसी इसके उदाहरण हैं। व्यंग्य मूलतः विरोध-प्रधान होता है। उसमें तिक्तता होती है। परंतु क्षमा का अपूर्व गुण भी उसमें होता है। वह क्रोध की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति नहीं होता परंतु उसका संवाहक अवश्य होता है।

हिंदी में व्यंग्य विधा का अलग से विकास करने और इस ओर से सचेत होकर व्यंग्य-प्रधान रचना करने का प्रयास पाश्चात्य प्रभाव से हुआ, क्योंकि पश्चिम में इस प्रकार की रचना भी अधिक हुई और आलोचनात्मक ढंग से उस पर लिखा भी बहुत गया। ह्यूमर, विट आयरनी, सैटायर और फार्स आदि संज्ञाएँ देकर इस विषय पर पश्चिम में पर्याप्त प्रकाश डाला गया। परंतु हिंदी के व्यंग्य-प्रधान साहित्य पर पाश्चात्य सजग प्रभाव बहुत बाद की घटना है। संस्कृत और हिंदी में अज्ञात रूप से, पद्य और गद्य दोनों में विकास होता रहा। कबीर, भारतेन्दु (अंधेर नगरी), बालमुकुन्द गुप्त (शिवशंभु का चिट्ठा) प्रताप नारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी, जे.पी. श्रीवास्तव, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, बेढब बनारसी, श्रीनारायण चतुर्वेदी और गुलाब राय का व्यंग्य-लेखन विशुद्ध देशी लेखन है, किसी भी रूप में पश्चिमी साहित्य से प्रभावित नहीं है। वह अपने समय की समस्याओं और विडम्बनाओं से जूझता रहा।

संस्कृत-साहित्य में हास्यरस को महाकाव्य का अंगीरस स्वीकार नहीं किया गया है और न इस प्रकार की कोई रचना ही मिलती है। 'प्रहसन' ही इस रस की सीमा रही है। पश्चिम में भी अरस्तू ने उसे त्रासदी की तुलना में कोई महत्व नहीं दिया है। शुक्लजी ने भी शुद्ध हास्य को एक लक्ष्यहीन रचना माना है। अतः हास्य अपने विशुद्ध रस रूप में अधिक सम्मानित न हो सका। परंतु हास्य जब सामाजिकता से संवलित होकर व्यंग्य का रूप धारण करता है तभी उसमें गंभीरता आती है। वह मात्र मनोरंजन को एक ओर कर, लक्ष्यहीनता को छोड़कर सामाजिक कमजोरी पर चोट करता है तभी महत्व प्राप्त करता है। 'दस्त' और 'पाद' जैसे अकबर-बीरबल के चुटकुले, भाषा-चातुर्य से आगे बढ़कर हमें किसी भी सामाजिक उद्देश्य की ओर नहीं ले जाते। हास्य, व्यंग्य का एक महत्वपूर्ण अवयव है

परंतु व्यंग्य का संबंध सभी रसों से है। उसका सर्वाधिक संबंध करुण रस से है। हास्य से व्यंग्य के संबंध के विषय में मेरिडिथ महोदय ने तो यहां तक लिखा है कि - 'हास्यास्पद का मजाक इतना अधिक उड़ाया जाय कि हास्य तत्व समाप्त हो जाये, तब हम व्यंग्य की सीमा में प्रवेश करते हैं।' 'जो बाम्हन तुम बाम्हन जाये, और बाट काहे नहीं आये' एक ऐसा ही व्यंग्य है। हड़तालियों के विषय में मिल मालिक का यह कथन - 'कमाल है, इन्साफ मांगते हैं' इस सीमा का स्पर्श करता है। 'साहित्य अमृत' में सितंबर 2014 के अंक में प्रकाशित बलदेव कृष्ण कपूर की कहानी 'सैमुअल की डायरी' में अकाल के समाचारों का रिपोर्टर बहुत कीमती गाड़ी में बैठकर, दूर-दराज इलाके की रिपोर्ट इकट्ठा करते समय रास्ते में एक मरणासन्न बालक को तड़पते और भूख से फड़फड़ाते देख, उसका फोटो लेकर आगे बढ़ जाता है। दूर-दूर की सामग्री एकत्र कर लौटता है। तो उसे ज्ञात होता है कि भूख से तड़पता वह बालक मर गया है। वह उसकी भी फोटो ले लेता है और उसकी अकाल रिपोर्ट दूसरे दिन प्रातःकाल बड़ी सज-धज के साथ अखबार में छपती है, धूम मचा देती है, परंतु रिपोर्टर आत्महत्या कर लेता है। सुसाइड नोट में वह लिखता है कि वह इसलिए आत्महत्या कर रहा है कि वह तड़पते बालक को छोड़कर आगे क्यों बढ़ गया। उसको अस्पताल क्यों न ले गया। यह अंतिम करुणरस संपन्न नोट संवेदनहीन पत्रकारिता पर एक गहरा व्यंग्य है। प्रेमचंद की कहानी 'मोटेराम शास्त्री' के व्यंग्य में हास्य के छींटे हैं परंतु उनकी कहानी 'बड़े भाई साहब' का अंतिम वाक्य कि बड़े भाई साहब पतंगबाजी के विरुद्ध छोटे भाई को भाषण देते समय कटी पतंग की डोर हाथ आते ही उसे लूटने भाग पड़ते हैं, एक ऐसा व्यंग्य है जो कहानी के सारे हास्य को एक ओर रख देता है। अंतिम वाक्य का व्यंग्य शेष पूरी कहानी पर भारी पड़ता है। एक कवि का यह कथन है कि- अदालत में / न मुद्दई जीतता है/ न मुद्दायलय / सिर्फ वकील जीतता है। एक पूरी न्याय व्यवस्था को अपने आप में समेटे हुए उसकी इस सीमा तक मजाक उड़ा रहा है कि हास्य गायब हो गया है।

यद्यपि व्यंग्य का संबंध हास्य के साथ बहुत गहरा है और भारतीय काव्यशास्त्र के सभी संप्रदायों- अलंकार, वक्रोक्ति, रीति और औचित्य - के साथ है, श्लेष तो उसका प्रमुख साधन है परंतु ध्वनि-तत्व उसका अनिवार्य अंग है। जब सामाजिक चित्रण अभिधात्मक रूप धारण कर लेता है तो वह वामपंथी सामाजिक यथार्थ हो जाया करता है, अपनी साहित्यिकता खो देता है परंतु जहां सामाजिक उद्देश्य कथित न होकर ध्वनित होता है, वहां वह मार भी तीखी करता है और अपनी कलात्मकता में अपनी शक्ति का भी अहसास कराता है। मन्नू भण्डारी की कहानी 'सजा' का नायक जो पूरी तरह ईमानदार है, दस रुपये की रिश्वत के केस में फंसा दिया जाता है। वह अपनी ईमानदारी सिद्ध करने के लिए बीस वर्ष तक अदालत में लड़ता रहता है। इस बीच उसकी एक लड़की किसी के साथ भाग जाती है, दूसरी कुँवारेपन में ही गर्भवती हो जाती है। दोनों लड़के आवारा और गुण्डे हो जाते हैं, बाप की ही बेइज्जती करने लगते हैं। बीस साल बाद सुप्रीम कोर्ट फैसला देता है - 'आपको बाइज्जत बरी किया जाता है।' कहानी का सारा पैनापन और सामाजिक यथार्थ 'बाइज्जत' शब्द की झनझनाहट में सिमटकर अपनी व्यंग्य शक्ति का अहसास कराता है। प्रेमचंद की प्रसिद्धतम कहानियों 'कफन' और 'पूस की रात' में हास्य लगभग अनुपस्थित है और 'कफन' का ध्वन्यर्थ उतना ही नहीं है जो कहानी के प्रारंभ में अभिधात्मक रूप से उपस्थित है। यह कहानी सामाजिक परिस्थितियों पर उतना बड़ा व्यंग्य नहीं जितना कि मनुष्य के मनोविज्ञान पर। व्यक्ति अपनी दुष्टता को झेलने के लिए कैसे-कैसे तर्क ढूंढ़ता है और ढूढ़ं सकता है, यह कहानी इस ओर हमारे कान

खड़े कर देती है। 'पूस की रात' का अंतिम वाक्य भी 'बड़े भाई साहब' के अंतिम वाक्य की तरह ही पैना है, परंतु वह अपनी सामाजिकता में महत्वपूर्ण हो उठा है। करुणा का भाव इन दोनों ही कहानियों में पाठक को दर्दाता रहता है।

ऊपर हमने कुछ कहानियों की चर्चा की है। व्यंग्य कहानियों में ही नहीं, अपनी सत्ता निबंधों, नाटकों और उपन्यासों में भी सिद्ध कर रहा है। हरिशंकर 'परसाई', शरद जोशी, रवीन्द्रनाथ त्यागी, श्रीकृष्ण चराटे, गोपाल चतुर्वेदी, प्रदीप पन्त, यशवंत कोठारी ऐसे व्यंग्यकार हैं जिनकी अनेक रचनाओं में कहानी और लेख का अंतर व्यंग्य की तीक्ष्णता के कारण सिमट गया है। जहाँ तक नाटक का प्रश्न है, रंगमंच पर आज वही नाटक सफल सिद्ध होता है जो हास्य के माध्यम से व्यंग्य को उपस्थित करता है। उसमें हास्य की मात्रा कुछ अधिक ही होती है। गंभीर नाट्य रचना रंगमंच पर अधिक सफलता प्राप्त नहीं कर पाती। जहां तक उपन्यासों का प्रश्न है 'व्यंग्य उपन्यास' के रूप में हिंदी में एक नयी विधा का विकास हुआ है। निराला का 'कुल्ली भाट', चतुरसेन शास्त्री का 'बगुला के पंख', श्रीलाल शुक्ल का 'अज्ञातवास' और 'राग दरबारी', नागार्जुन का 'हीरक जयन्ती', हिमांशु श्रीवास्तव का 'सूर्य की नयी यात्रा', पुरुषोत्तम गौड़ का 'एक गधी की आत्मकथा', राही मासूम रजा का 'टोपी शुक्ला', यादवेन्द्र शर्मा का 'एक और मुख्यमंत्री', गिरिधर गोपाल का 'कन्दील और कुहासे', मनहर चौहान का 'आखिरी सफा', भगवती चरण वर्मा का 'सबहि नाचवत राम गुंसाई', मुक्तिबोध का 'विपात्र' ऐसे व्यंग्य उपन्यासों की एक शृंखला बनाते हैं। यहाँ हम कुछ चर्चा 'राग दरबारी' के माध्यम से करना चाहेंगे।

सातवें दशक में रचा गया 'राग दरबारी' श्रीलाल शुक्ल का ही नहीं, हिंदी के व्यंग्य उपन्यासों में सर्वाधिक श्रेष्ठ माना जाता रहा है जो शिवपालगंज नामक ऐसे गाँव पर आधारित है जहाँ मानवीय अच्छाइयों के अतिरिक्त सभी कुछ विद्यमान है। आजादी प्राप्त होने के बाद, विकास के नारों के मध्य जो एक चारित्रिक पतन सामने आया, यह उपन्यास इसी चारित्रिक पतन की गाथा प्रस्तुत करता है। इसका सूत्रधार रंगनाथ नामक एक शोध-छात्र है जो अपने मामा वैद्यजी के घर स्वास्थ्य लाभ करने आता है। यहाँ आकर इस कस्बानुमा गांव की राजनीति, शिक्षा, सामाजिक स्थितियों, जातिवाद, आर्थिक स्थितियों, भाषा साहित्य और संस्कृति की स्थितियाँ विभिन्न उपकथाओं और पात्रों के माध्यम से उसके सामने आती हैं। यह आंचलिक उपन्यास अपनी व्यंग्य शैली के कारण हिंदी का एक श्रेष्ठ उपन्यास घोषित कर दिया गया है, बावजूद इसके कि इसमें आंचलिक उपन्यास के सभी गुण-दोष अपनी पूरी शिद्दत के साथ वर्तमान हैं। व्यवस्था के विरुद्ध लड़नेवाला रंगनाथ और उसका साथी भगड़ परिस्थितियों की घनघोरता और नस-नस में व्याप्त भ्रष्टाचार के कारण अपनी लड़ाई हार जाते हैं। भगड़ बिना रिश्वत दिये नकल प्राप्त कर लेने के प्रयास में जीवन भर कचहरी के चक्कर काटता रहता है, क्योंकि नकल देनेवाला क्लर्क पांच रुपये मांगता है जबकि भगड़ दो रुपये (सरकारी फीस) देना चाहता है और इस प्रकार दोनों में धर्म-युद्ध छिड़ जाता है, बीच में नकल झूलती रहती है जो उसे अंत तक भी नहीं मिली। प्रिंसिपल का चरित्र आज के बुद्धिजीवियों की विवशता उपस्थित करता है। यह विशालकाय उपन्यास जीवन की इतनी विसंगतियों, विडम्बनाओं और भ्रष्टाचारों को समेटे हुए हैं कि इसे महाकाव्यात्मक उपन्यास की संज्ञा दी गई है।

परिस्थितियों का सघनतम वर्णन करने के बाद भी यह उपन्साय एक कालजयी उपन्यास नहीं बन पाया है। निर्मला जैन ने अपने लेख 'इक्कीसवीं सदी में रागदरबारी' में स्पष्टतः लिखा है कि आज यथार्थ बदल चुका है, वह सातवें दशक का यथार्थ नहीं इक्कीसवीं सदी का ययार्थ है परंतु जो नयी

परिस्थितियां बनी हैं उन्हें पुनः 'रागदरबारी' की तर्ज पर प्रस्तुत करने की आवश्यकता है। व्यंग्य की तीव्रता वही होनी चाहिये जो 'रागदरबारी' की है अतः एक नये 'रागदरबारी' के लिखे जाने की आवश्यकता है और यही व्यंग्य उपन्यासों की ही नहीं, संपूर्ण व्यंग्य साहित्य की सीमा है। 'रागदरबारी' के पुनः पुनः लिखे जाने की आवश्यकता सदा बनी रहेगी। उनका कथन है - 'पर ये पात्र केवल कस्बाई पात्र नहीं खण्ड-खण्ड जिंदगी में वे हिस्से हैं जो कुल मिलाकर एक जीवन-शैली' की रचना करते हैं। धूर्तता, पाखण्ड, कमीनगी, लाचारी, निरीहता, निर्ममता और अमानवीयता के मूर्तरूप और इन सबको प्रतिफलित करने वाली संस्थाएँ सब मिलकर एक ऐसा विभाजन-व्यापार रचते हैं जिसे नामरूप से मुक्त कर कहीं भी खोजा जा सकता है।' (व्यंग्य-यात्रा, अंक-17 पृष्ठ 21)। तात्पर्य यह है कि वे सारे तत्व जिन्होंने 'रागदरबारी' को जन्म दिया आज भी मौजूद हैं। वे सारे भारत में फेंके साधारणीकृत आलम्बन हैं।

संपूर्ण व्यंग्य साहित्य की यह एक सीमा है कि वह अपने समय को गहराई के साथ अंकित कर अपने समय का एक ठोस दस्तावेज तो बन जाता है परंतु यथार्थ की यह पकड़ अपने समय का इतिहास बनकर भी शाश्वत साहित्य का रूप नहीं ले पाता। हाँ, ऐसे साहित्य की शृंखला समाज के वास्तविक इतिहास की रचना कर सकती है जो औपचारिक इतिहास में प्राप्त नहीं हो सकता।

व्यंग्य साहित्य की एक और सीमा की ओर संकेत करने के लिए भी हम 'रागदरबारी' का ही सहारा लेना चाहेंगे। प्रश्न यह है कि इस उपन्यास की फलश्रुति क्या है? फलश्रुति है 'पलायन-संगीत' जो उपन्यास में इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है - पलायन संगीत / तुम मँझोली हैसियत के मनुष्य हो और मनुष्यता की कीचड़ में फँस गए हो। तुम्हारे चारों ओर कीचड़ ही कीचड़ है। / कीचड़ की चापलूसी मत करो, इस मुगालते में मत रहो कि कीचड़ में कमल पैदा होता है। कीचड़ में कीचड़ ही पनपता है। वही फैलता है, वही उछलता है। /कीचड़ से बचो, यह जगह छोड़ो, यहां से पलायन करो /नौजवान डाक्टरों की तरह, इंजीनियरों, वैज्ञानिकों अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के लिए हुड़कने वाले मनीषियों की तरह, जिनका चौबीस घण्टे यही रोना है कि वहां सबने मिलकर उन्हें सुखी नहीं बनाया, पलायन करो। यहाँ के झंझटों में मत फँसो। / अगर तुम्हारी किस्मत फूटी है और तुम्हें यहीं रहना पड़े तो अलग-से अपनी एक हवाई दुनिया बना लो। इस दुनिया में रहो जिसमें बहुत से बुद्धिजीवी आँख मूँदे पड़े हैं। होटलों और क्लबों में। शराबखानों और कहवाघरों में... यह न कह सको तो अतीत में जाकर छिप जाओ। कणाद, पतंजलि और गौतम में, अजन्ता एलोरा और एलीफैण्टा में, कोणार्क और खजुराहो में, शालभंजिका, सुर सुन्दरी-अलसकन्या के स्तनों में, जप-तप-मंत्र में, सत्र-समागम, ज्योतिष सामुद्रिक में - जहां भी जगह मिले जाकर छिप रहो। / 'भागो, भागो, भागो यथार्थ तुम्हारा पीछा कर रहा है।' (रागदरबारी, पृष्ठ 423)।

उपन्यास का अंत भी यही होता है कि रंगनाथ अपनी लड़ाई छोड़कर शिवपालगंज से शहर चला जाता है। तात्पर्य यह कि यह उपन्यास यथार्थ को तो उसकी भीषणतम स्थिति में उभारने के लिए तैयार है परंतु किसी भी प्रकार का दिशा-निर्देश उसके लिए संभव नहीं हो सका है। इस पलापन संगीत को सांस्कृतिक विकास का आधार नहीं बनाया जा सकता, यह पराभूत मनोवृत्ति स्वीकर नहीं की जा सकती और सम्पूर्ण व्यंग्य साहित्य की यह सीमा है कि वह नकारात्मक स्थितियों को तो उनकी चरम सीमा तक उभारता है, सकारात्मक उसके पास कुछ नहीं है। वह लड़ना चाहता है, लड़ता भी है परंतु परास्त हो जाता है।

इस लेख को समाप्त करने से पूर्व मैं 2014 में

प्रकाशित एक व्यंग्य उपन्यास 'सैक्यूलर्टाइटिस' के विषय में कुछ कहना चाहूँगा। यह मनोज ज्वाला (एम.के. पाण्डे) की कृति है जिसे व्यंग्य उपन्यास की संज्ञा दी गई है। यह उपन्यास मूल रूप से सैक्यूलरिज्म से उत्पन्न विसंगतियों और राजनैतिक अतियोंकी व्याख्या ऐसे स्वर और ऐसी भाषा में करता है जिसे न तो पूरी तौर से उपन्यास कहा जा सकता है और न विचारात्मक या ललित निबंध। रूपक तत्व होने के बावजूद, कथोपकथन मात्र से मंतव्य को व्यक्त करने के बाद भी यह नाटक तो बिल्कुल भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि इसमें कथानक तत्व का सर्वथा अभाव है, घटनाएँ एकदम अनुपस्थित हैं, मात्र वार्तालाप ही वार्तालाप है जो शब्दों और संज्ञाओं को विकृत करके हास्य उत्पन्न करने का आभास देते हैं व लेखक के इस मन्तव्य को घोषित करते हैं कि वह सैक्यूलरिज्म से उत्पन्न वस्तु स्थितियों का मजाक उड़ा रहा है, परंतु उसमें गंभीरता कहीं भी नहीं है। व्यंग्य की चुभन नादारद है। भाषा के अतिशय तुकान्त प्रयोग ने इसे व्यंग्य के स्थान पर हास्य तक सीमित कर दिया है, हास्य भी ऐसा जिसमें पाठक साथ देता नहीं दिखाई पड़ता, लेखक स्वयं ही हँस रहा है, ऐसा ही लगता है। कथातत्व का अभाव और लेखक का घोषित उद्देश्य 'सैक्यूलर्टाइटिस' बीमारी की कल्पना को जिस रूप में प्रस्तुत करता है वह अपने समय की गंभीरतम समस्याओं को तो समेटे हुए है और साथ ही सैक्यूलरिज्म के व्यंग्य पूर्ण विशेषण- सफेद धर्म निरपेक्षता, शाही धर्म निरपेक्षता, जंगली धर्म निरपेक्षता, सदाबहार धर्म निरपेक्षता, जजिया धर्म निरपेक्षता, हाजिया धर्म निरपेक्षता, इंटरनेशनल धर्म निरपेक्षता, उधारू धर्म निरपेक्षता, मलाईदार धर्म निरपेक्षता, सांस्कृतिक प्राकृतिक सात्विक धर्म निरपेक्षता आदि आदि- इस बीमारी के फैलाव को स्पष्ट करते हैं। सब कुछ के बाद भी जब लेखक व्यंग्य की भाषा छोड़कर अपनी व्याख्याएँ औरअपनी टिप्पणियां प्रस्तुत करने लगता है तो वह व्यंग्य के धरातल से च्युत होकर प्रचारवादी लेखन का रूप धारण कर लेता है। व्यंग्य कला की दृष्टि से यह संपूर्ण कृति 'उपन्यास' संज्ञा को छोड़ देती है। राजनीति की मजबूरियां कितने घृणित कृत्यों और विचारों को जन्म देती हैं और दे सकती हैं, इसका गहराई से न सही यथार्थ रूप में प्रस्तुतीकरण हुआ है परंतु कथा में रूपक तत्व लाने के प्रयास के कारण लेखकीय व्याख्याएं पात्रों की ओर से आँख मूद लेती हैं। राजघाट से गायब हुए गांधी जिस रूप में उपन्यास में उपस्थित हुए हैं, वह मिट्टी का लौंदा बनकर रह गए हैं। लेखक समझता है कि गांधीजी या मोहम्मद और साराजहाँ जैसी संज्ञाएं उसके पक्ष को मजबूत कर रही हैं, तो यह लेखक की गलतफहमी तो है ही साथ ही उसकी असफल कुटिलता की ओर संकेत कर पाठक के मन में लेखक की ईमानदारी के प्रति शंका उत्पन्न करती है।

लेखक ने संप्रदाय की जो व्याख्या की है वह प्रचलित अर्थ में ही की है।[11] गहराई में जाने का प्रयास नहीं किया है। वस्तुतः संप्रदाय एक ऐसा पवित्र शब्द है जो गुरु-शिष्य के संबंधों की प्रगाढ़ता को प्रत्यक्ष करता है।[12] संप्रदाय कोई पागलों का समूह नहीं होता। वह विशिष्ट विचारधारा से आविष्ट एक चिंतन प्रणाली को व्यवहार में उतारने वालों का समूह होता है। यह उपन्यास जिस सीमित समय (2009-2014) के वातावरण पर प्रकाश डालता है वह भी व्यंग्य साहित्य की इस सीमा को उजागर करता है कि व्यंग्य साहित्य की प्रकृति शाश्वत साहित्य की प्रकृति नहीं हो सकती। परंतु समस्त कमियों के बावजूद भी, भले ही यह 'रागदरबारी' के समकक्ष न हो परंतु अपने संक्षिप्त युग का एकपक्षीय यथार्थ उजागर करता है जो 'रागदरबारी' के युग और परिस्थियों तथा विषय से एकदम भिन्न है।

अंत में एक बिन्दु और। क्या व्यंग्य को एक अलग विधा के रूप में स्थापित किया जा सकता है या किया जाना चाहिए? व्यंग्य की व्याप्ति सभी विधाओं

में है। काव्य, नाटक, निबंध, कहानी, उपन्यास आदि कोई भी विधा उससे छूटी नहीं है, तो फिर इस विधा का स्वरूप क्या होगा? यंग्य को साहित्य में सर्वव्याप्त तत्व के रूप में आनन्दवर्द्धन बहुत पहले ही स्थापित कर गये हैं। सामाजिक यथार्थ का वास्ता देकर भी उसे अलग से स्थापित नहीं किया जा सकता।

सारांशतः कहा जा सकता है कि हास्यरस भारतीय रसशास्त्र में बहुत सीमित स्थिति रखता है और वह अपने शुद्ध रूप में एक लक्ष्यहीन तत्व है। उसको गरिमा प्राप्त होती है, जब वह व्यंग्य गर्भित हो जाता है। व्यंग्य साहित्य ध्वनिशास्त्र में वर्णित व्यापक ध्वनि तत्व से अलग परंतु अनिवार्यतः उससे संलग्न ऐसा साहित्य है जो सामाजिक विभीषिकाओं को उजागर करता है। हास्य उसका महत्वपूर्ण साथी है परंतु व्यंग्य की गति सभी रसों में है। रस व्यंग्य साहित्य का अनिवार्य तत्व नहीं है। यह साहित्य अपने समय की परिस्थितियों का दस्तावेज तो होता है, परंतु उसमें शाश्वत साहित्य के तत्वों का अभाव रहता है। वह परिस्थिति का कचोट युक्त वर्णन करने में तो समर्थ है परंतु संदेश देने की सामर्थ्य उसमें नहीं। यह उसकी सीमा है।

संदर्भ

1. शृंगारहास्यकरुणां रौद्रवीर भयानकाः। वीभत्साद्भुत संज्ञौ, चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः। (6.16 पृ. 218)। **2.** तेषामुसात्तिर्हतवश्चत्वारो रसाः। तद्यथा शृंगारो, रौद्रो, वीरो वीभत्स इत। अत्र - शृंगाराद्धि भवेद्धास्यो, रौद्राच्च करुणो रसः। वीराच्चैवाद्-भुतोत्पत्तिवीभत्साच्च भयानकः।। शृंगारनुमृर्त्या तु स हास्यस्तु प्रकीर्तितः। रौद्रस्यैव च यत्कर्म स होय करुणो रसः।। वीरस्यापि च यत्कर्म सोऽद्भुतो परिकीर्तित्। वीभत्सदर्शनं यच्च तेयः सतु भयानकः।। (6.40,41,42।। पृ.- 293)। **3.** नाट्यशास्त्र प्रथम भाग पृ.-214। **4.** नाट्यशास्त्र, भाग-1, (6.55-62 पृ.-32)। **5.** रस-मिमांसा, रामचन्द्र शुक्ल, पृ.-141। **6.** वही। **7.** काव्यानुशासन, हेमचन्द्र, पृ.-126। **8.** रसतरंगिणी, पृ.-201। **9.** भावप्रकाश, द्वितीय अधिकार। **10.** यत्रार्थ : शब्दोवा तमर्थमुपसर्जनीकृत स्वार्थौ। व्यंक्तः काव्य विशेषः ध्वनिरिति सूरिभिः कथित।।1.13।। प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्तु वाजीषु महाकवीनाम्। यत्रत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं, विभातिलावण्यमिवाङ्गा-नुशुः।।1.4।। **11.** 'सांप्रदायिकता का विपरीतार्थक नहीं है धर्मनिरपेक्षता, क्योंकि वह तो धर्म सापेक्षता का विलोमार्थ है जबकि समग्रता-समानता-एकात्मता की विरोधी विपरीत अवधारणा है साम्प्रदायिकता। पृष्ठ 251। **12.** Sanskrti English Dictionary, vaman Apte पृष्ठ 590 देखे - संप्रदानं, संप्रदायः।

75/70 मानसरोवर, जयपुर-302020
मो.-8764295011

कुसंग एक ज्वर है

मकदुनिया का नायक बना बादशाह डेमेट्रियस कभी-कभी राज्य का सब काम छोड़कर अपने ही मेल के दस-पाँच साथियों को लेकर विषय-वासना में लिप्त रहा करता था। एक बार बीमारी का बहाना बनाकर इसी प्रकार अपने दिन काट रहा था। बूढ़े पिता को यह बात अखरती थी। वह बीमार पुत्र से मिलने गया। उसने एक हंसमुख जवान को कोठरी से बाहर निकलते देखा। जब पिता कोठरी के भीतर पहुँचा, तब डेमेट्रियस ने कहा– 'ज्वर ने मुझे अभी-अभी छोड़ा है।' पिता ने कहा– हाँ! ठीक है, वह दरवाजे पर मुझे मिला था।

सचमुच कुसंग भी एक ज्वर है, एक भयंकर ज्वर है। शारीरिक ज्वर का इलाज है– पर, जो कुसंग में फंस जाता है– समझो असाध्य ज्वर का शिकार हो गया है। यह ज्वर केवल नीति और सद्वृत्ति का ही नाश नहीं करता, बल्कि बुद्धि का भी नाश करता है। कुसंग ज्वर है, घमंड ज्वर है, गंदी पुस्तकें ज्वर हैं। ज्वर का अर्थ है– पैर में बंधी चक्की, जो दिन-दिन अवनति के गर्त में गिराती है। इससे बचने का उपाय है – सत्संगति। सत्संगति बाहु के समान है, जो निरंतर उन्नति की ओर उठाती, बढ़ाती रहेगी।

आचार्य शिवपूजन सहाय का संपादन-कर्म

मंगलमूर्ति

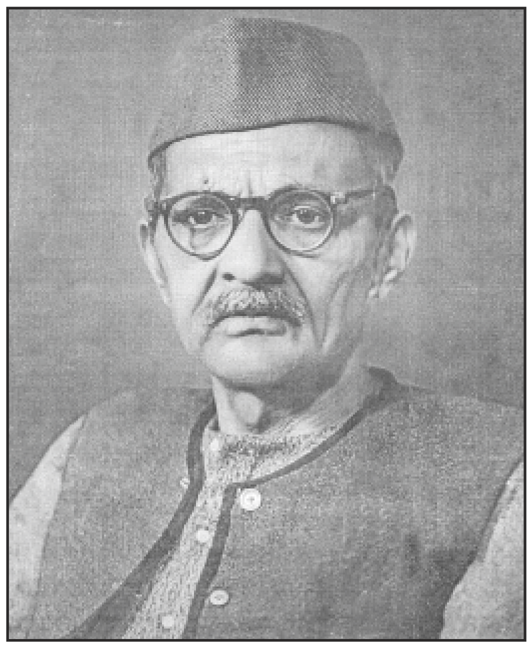

अपनी स्कूली शिक्षा के प्रारंभ में शिवपूजन सहाय (9 अगस्त 1890 - 21 जनवरी 1963) ने हिंदी की जगह अरबी-फारसी की पढ़ाई की थी। बाद में अपने पिता की सलाह पर उन्होंने अरबी-फारसी छोडकर हिंदी पढ़ना शुरू किया। शुरुआती अरबी-फारसी-उर्दू की तालीम का ही असर था कि "साहित्य" की एक संपादकीय टिप्पणी में शिवपूजन सहाय - जिन्हें लोग शिवजी कहा करते थे-- "रुझान" शब्द का अरबी के अनुसार पुल्लिग प्रयोग किया था जिसने आ. नलिनविलोचन शर्मा को भी भ्रम में डाल दिया और उन्होंने प्रूफ देखने में "रुझान" को भूल से स्त्रीलिंग बना दिया जिसके कारण अगले अंक (जनवरी और अप्रैल, 1959) में उन्हें क्षमा-याचना करनी पड़ी थी। शिवपूजन सहाय ने हिंदी को जीविकोपार्जन के लिए नहीं चुना था, क्योंकि उस जमाने में मुंशियाना नौकरियों के लिए अरबी-फारसी की अहमियत ज्यादा थी। हिंदी का चुनाव उन्होंने मातृभाषा की सेवा-भावना से ही किया था। साहित्य-सेवा के पीछे भी हिंदी-सेवा की ही भावना थी। शुरू की उर्दू- फारसी तालीम के कारण ही उर्दू की लिखावट भी उनकी बहुत साफ थी। एक बार 1952 में जब वे पटना में यक्ष्माकेंद्र में भरती थे तो सब्जीबाग के मुसलमान फलवाले के यहां से उर्दू में ही पुर्जे लिखकर फल मंगवाते थे। राजेंद्र कॉलेज की उर्दू लिटररी सोसाइटी के सालाना जलसे में 1945 में उन्होंने उर्दू के कवि अकबर इलाहाबादी पर जो पर्चा पढ़ा था- जो 'शिवपूजन रचनावली' के चौथे खंड में छपा है- वह भी उर्दू अदब

और शायरी से उनकी वाकफियत का एक सुंदर उदाहरण है। ऊपर 'रुझान' शब्द की चर्चा संपादन के प्रसंग में ही की गई है। उस एक प्रसंग से शिवपूजन सहाय के भाषा-संपादन की बारीकी का कुछ अंदाज लग सकता है। उस पीढ़ी के लोग इस मामले में कितने सतर्क होते थे उसकी एक छोटी-सी मिसाल इससे मिलती है।

संपादन मूलतः एक साहित्यिक प्रकिया है, और चूंकि भाषा ही साहित्य का माध्यम है, इसलिए यह प्रकिया भाषा के स्तर पर ही घटित होती है। एक अच्छे कारीगर की तरह एक अच्छे संपादक को भी अपने इन दोनों हाथों-भाषा और साहित्य- में बराबर महारत हासिल होनी चाहिए। उसे साहित्य और भाषा दोनों की पूरी सरगम मश्क होनी चाहिए। संपादन के संगीत में साहित्य अगर सुर है तो भाषा ताल है। जिसे दोनों की अच्छी समझ हो, वही संपादन का मर्मज्ञ हो सकता है। कुछ संगीतकारों में सुर की पकड़ तो बहुत अच्छी होती है, पर लय की पकड़ कमजोर होती है। अक्सर इसका उलटा भी होता है। लेकिन दोनों पर समान अधिकार होना ही अच्छे संगीतकार की पहचान है। साहित्य में भी यह बात बहुत हद तक लागू होती है। जब शिवपूजन सहाय प्रेमचंद की "रंगभूमि" का संपादन कर रहे थे तो उन्होंने प्रेमचंद पर लिखे अपने संस्मरण में इस प्रक्रिया की हल्की-सी चर्चा की है। यह 1924 उत्तरार्द्ध की बात है, जब शिवजी "मतवाला" छोड़कर दुलारेलाल भार्गव के बारबार बुलाने पर "माधुरी" के संपादन विभाग में प्रेमचंद के सहयोगी बनकर वहां गये थे। प्रेसों के संपादकीय विभागों में अक्सर एक स्टाइल-शीट का अनुपालन होता है। कम से कम दुलारेलाल के यहां, उनके प्रकाशनों में वर्तनी के कुछ खास नियमों का पालन आवश्यक था। शिवजी ने उक्त संस्मरण में लिखा है - *मैं "माधुरी" और गंगा-पुस्तकमाला के संपादन-विभाग में काम करता था। उसी समय उनका "रंगभूमि" नामक बड़ा उपन्यास वहां छपने के लिए आया था। उसकी पूरी पांडुलिपि उन्होंने पहले-पहल देवनागरी लिपि में अपनी ही लेखनी से तैयार की थी। दो मोटी ज़िल्दों में ख़ासा एक बड़ा पोथा, छोटे-छोटे अक्षर, घनी लिखावट, कहीं काट-छांट नहीं.... जब मैं "रंगभूमि" की कापी पढ़ने लगा, नियमों का ध्यान छूट गया, मन रीझकर भाषा की बहार लूटने लगा।.... कुछ हिंदी शब्दों की लिखावट में भूल मिलती थी और कुछ के उपयुक्त प्रयोग में भी। वाक्यावली और वर्णन-शैली तो गंगा की धारा-सी स्वच्छ और सवेग थी। बंधे नियमों के अनुसार कुछ अक्षर बदलने पड़े। कुछ मात्राएं इधर-उधर हुई, कुछ प्रसंगानुकूल यथोचित शब्द चस्पां किये गये। प्रेस कापी तैयार हो गई।*

उक्त शब्दों में शिवजी की स्वाभाविक विनम्रता एवं आत्म-विगोपन, जो उनके संपूर्ण व्यक्तित्व एवं कृतित्व की टकसाली पहचान है उसके स्वर के पीछे की ध्वनियों को सुनने की कोशिश करें तो उनकी सदा-सतर्क संपादन-कला की बारीकियों का कुछ अंदाज मिल जायेगा। पुस्तक जब प्रकाशित हुई तो उसकी भेंट-प्रति के साथ 22 फरवरी, 1925 को जो पत्र प्रेमचंद ने उन्हें लिखा उसकी इन पंक्तियों पर भी ध्यान दें - मुझे तो आप भूल ही गए। लीजिए जिस पुस्तक पर आपने कई महीने दिमाग़रेज़ी की थी वह आपका एहसान अदा करती हुई आपकी ख़िदमत में जाती है और आपसे विनती करती है कि मुझे दो-चार घंटों के लिए एकांत का समय दीजिए और तब आप मेरी निस्बत जो राय कायम करें वह अपनी मनोहर भाषा में कह दीजिए। अक्टूबर, 1924 की "माधुरी" में ही प्रेमचंद की प्रसिद्ध कहानी "शतरंज के खिलाड़ी" छपी थी, और निश्चय ही शिवजी ने उस कहानी का भाषा-संशोधन भी किया था। शैली-शास्त्र के अध्येता सहज ही इसका अनुसंधान कर सकते हैं कि "रंगभूमि" और "शतरंज के खिलाड़ी" की भाषा-शैली में कितना साम्य है, और प्रेमचंद की इन दोनों रचनाओं की भाषा-शैली उनके उन्हीं दिनों अन्यत्र से

प्रकाशित उपन्यासों-कहानियों की भाषा-शैली से कितनी भिन्न है, यह तो एक पाठ-शोध का विषय है।

सामान्यतः ऐसा समझा जाता है कि संपादन एक स्खलित साहित्यकर्म है। सच तो यह है कि हर श्रेष्ठ रचनाकार अपनी रचना के सृजन-काल में ही बार-बार तबतक संपादन करता रहता है जबतक वह उसकी गुणवत्ता की पूर्णता से पूरी तरह आश्वस्त नहीं हो जाता। अर्नेस्ट हेमिंग्वे की कथा-भाषा को अंगरेजी साहित्य में कथा-गद्य का एक से पूरी तरह आश्वस्त नहीं हो जाता है। अर्नेस्ट हेमिंग्वे की कथा-भाषा को अंगरेजी साहित्य में कथा-गद्य का एक प्रतिमान माना जाता है। उसने अपने प्रसिद्ध उपन्यास "दि ओल्ड मैन ऐंड द सी" के लेखन से लेकर मुद्रण तक 200 बार मूल पाठ और प्रूफों में संशोधन किये थे, और निश्चय ही इन संशोधनों को मात्र भाषा-संशोधन की कोटि में नहीं रखा जा सकता। इस तरह का अव्यक्त संपादन सृजनकर्म का एक आवश्यक अंग होता है जो बहुत कुछ एक तैल-चित्र बनाने की प्रकिया जैसा होता है जिसमें चित्रकार चित्र-पटल के रंगों पर बार-बार नई परतें तब तक चढ़ाता रहता है जब तक उसका मनोवांछित प्रभाव अंकित नहीं हो जाता। यदि इसी उपमा को थोड़ा आगे बढ़ाएं तो दूसरों की रचना के संपादन का काम बहुत कुछ पुराने धुंधले हो गये किसी चित्र के "रेस्टोरेशन" जैसा होता है, जहां अत्यंत सतर्कता से मूल चित्र का नवीकरण किया जाता है; इस तरह जो कुछ मूल रचना में स्पष्ट नहीं, उसे स्पष्ट कर दिया जाता है। लेकिन जहां एक "रेस्टोरर" को इसकी आजादी नहीं होती कि वह मूल चित्र में कहीं काट-छांट कर सके या उसमें नया कुछ जोड़ सके अथवा रचना की प्रकृति के अनुरूप उसके रंगों को हल्का या चटख कर सके, वहां संपादक को इसकी कमोबेश आजादी होती है। डी.एच. लॉरेंस के प्रकाशक एडवर्ड गार्नेट ने लॉरेंस के प्रसिद्ध उपन्यास "सन्स ऐंड लवर्स" में लंबे-लंबे अनुच्छेद काट दिये थे और कथासूत्र में कई स्थान पर परिवर्तन के लिए भी लॉरेंस को राय दी थी। पुस्तक के संपादित-प्रकाशित रूप एवं मूल पांडुलिपि की तुलना के बाद प्रसिद्ध आलोचक मार्क स्कोरर ने कहा - *एडवर्ड गार्नेट एक अत्यंत प्रबुद्ध संपादक था। उपन्यास में से जो भी उसने काटकर हटाया उससे उपन्यास का लाभ हुआ। कुछ भी महत्वपूर्ण काटा नहीं, केवल जो कुछ फाज़िल था वही काटा गया और उससे उपन्यास में कसाव आ गया और कथा-प्रवाह अधिक संतुलित हुआ....।* गार्नेट के संपादन-श्रम के लिए आभार प्रकट करते हुए लॉरेंस ने पत्र में लिखा - *आपने जो सही काट-छांट की है मैं उसके लिए आभारी हूँ। आपकी उम्र लंबी हो कि आप मेरे आगे के उपन्यासों को भी इसी तरह संवार सकें। मैं तो चाहता हूँ इस तरह के अनावश्यक विस्तार से बचना और आगे शायद मैं और अच्छा कर सकूं..।* तब भी और आज भी अंग्रेजी के सभी बड़े प्रकाशक- यहां तक कि "लिटररी एजेंट" भी लेखकों की प्रकाश्य पुस्तकों में काफी हद तक परिवर्तन करने के अधिकारी होते हैं। टी.एस. इलियट की प्रसिद्ध कविता "द वेस्ट लैंड" की तो दो-तिहाई पंक्तियां एजरा पाउंड ने काट दी थी। आज की मान्यता तो यह है कि कोई भी रचना मात्र रचनाकार का सृजन-परिणाम नहीं होती, उसमें अनेक सृजकेतर तत्वों का योगदान भी होता है, जिनमें रचना का पाठक भी शामिल समझा जाता है। शेक्सपियर की गिनती विश्व के महानतम नाटककारों में होती है। लेकिन उसके नाटकों को रंगमंच पर प्रयुक्त होने वाले "प्रॉम्प्टर" के अलग-अलग पन्नों को जोड़कर गहन संपादन के बाद तैयार किया गया था। अंग्रेजी साहित्य में "पाठ-संपादन" का एक वृहत् शास्त्र ही है, और केवल शेक्सपियर के नाटकों के पाठ-संपादन का कार्य सैकड़ों संपादकों के लगातार चार शताब्दियों के संपादन-श्रम का परिणाम है। यह एक अत्यंत सूक्ष्म एवं जटिल प्रकिया है। किंतु पाठ-संपादन का एक विशिष्ट क्षेत्र है, इसे ध्यान में रखना होगा।

उक्त उदाहरण अंग्रेजी साहित्य से इसलिए दिये जा

रहे हैं कि इस तरह के सृजन-सहायक कार्य की वहां के अनुशीलन-जगत में अधिक संवेदनशील समझ और स्वीकृति है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के बाद इस तरह के संवेदनशील सृजन-सहायक संपादन का कार्य शायद शिवपूजन सहाय ही सबसे अच्छा कर सके। शिवजी ने निराला के एक संस्मरण में एक मनोरंजक प्रसंग की चर्चा की है। निरालाजी ने "मतवाला" में "सरस्वती" के कई अंकों की समालोचना 'गरगज सिंह वर्मा' के नाम से लिखी थी जिससे क्षुब्ध होकर द्विवेदीजी ने 'मतवाला' के उन सभी अंकों को आदि से अंत तक लाल स्याही से अच्छी तरह रंग कर भेज दिया। वह जमाना था जब हिंदी अपने वर्तमान स्वरूप को संवार रही थी। लेखक-संपादक-प्रकाशक सभी भाषा-संस्कार के प्रति सचेत रहते थे। गद्य की भाषा के मामले में शिवजी का लोहा बीस के दशक में ही हिंदी-संसार में लोग मानने लगे थे। प्रेमचंद, प्रसाद और निराला ही नहीं हिंदी का लगभग प्रत्येक लेखक शिवजी को भाषा का आचार्य मानता था, और चाहता था कि उसकी रचना कम से कम एक बार शिवजी की लाल कलम से होकर गुजर जाय। 'मतवाला' में शिवजी का नाम संपादक के रूप में नहीं जाता था लेकिन पूरे एक वर्ष तक उसका पूरा का पूरा संपादन-कार्य शिवजी ने ही किया था। शिवजी के 'मतवाला' छोड़ने के बाद आप उसके अगले अंकों से मिलाकर देखें तो स्पष्ट हो जायेगा कि शिवजी के जाने के बाद 'मतवाला' के संपादन की स्थिति क्या हुई। उन्होंने जितने पत्रों का संपादन किया, दूसरा कोई हिंदी का संपादक ऐसा नहीं हुआ जिसने इतनी सारी साहित्यिक पत्रिकाओं अर्थात लगभग एक दर्जन पत्रिकाओं का संपादन किया हो। 'मारवाड़ी सुधार' से लेकर अपने अंतिम दिनों में 'साहित्य' तक कमोबेश यही स्थिति रही। जब वे छपरा में थे तभी से बहुधा वे अपनी डायरी में अपने विचार लिखा करते थे। एक जगह लिखा- "अकेला ही सर्वत्र खटता हूँ। 'मतवाला' के संपादन में भी अकेला ही खटता रहा।" सितंबर 6, 1947 की डायरी में लिखा- *कॉलेज जाने से पहले और वहां बाद भी लेख-संपादन करता रहा। लेखक बड़े असावधान हैं। लिख जाते हैं, पर यह समझते ही नहीं कि यह लिखा हुआ किसी की समझ में किस तरह आवेगा। दूसरों के लिए ही लिखना बड़ा कठोर कर्म है। अपने मन का ही लिखना बहुत आसान है। लिखना वही आसान है, जिसे पाठक खूब समझ सकें।*

चाहे-अनचाहे संपादन-कर्म उनके जीवन का अभिन्न अंग बन गया था। लेकिन बहुधा यह संपादन, दूसरों के लिए लेखन-कर्म ही होता था। उन्होंने अपनी काली कलम से जितना लिखा, लाल कलम से शायद उससे कम नहीं लिखा। अब जब उनकी डायरियां और पत्राचार प्रकाशित हो चुके हैं, तब यह व्यथा-कथा और उजागर हो गई है। ऐसे ही एक प्रसंग में मुजफ्फरपुर के एक विस्मृत नाटककार-अभिनेता-साहित्यकार नटवर जी ने जुलाई, 1960 के शिवजी को लिखे अपने एक पत्र में एक गहरा संवेदनशील वाक्य लिखा- "मांस-भक्षक, हड्डियों को तो और रस ले-लेकर चूसते हैं, तिस पर यदि दधीचि की हड्डियां हों तो फिर क्या कहना!" जब वे 'मतवाला' में थे तब यही हुआ, 'गंगा' में तो और भी विषम स्थिति थी, 'जागरण' में भी स्थिति वैसी ही रही, और 'हिमालय' में तो उनके अनुभव सबसे कड़वे साबित हुए। उग्रजी ने पाक्षिक 'जागरण' के बंद हो जाने पर अपने जुलाई, 1932 के एक पत्र में नंगा सच बयान कर दिया जो उनकी अपनी ख़ासियत थी। उन्होंने लिखा-

तुम किसी भी साप्ताहिक-मासिक पत्र में योग्य संपादक हो सकते हो, किंतु तुममें एक कमी है। वह है तुम्हारा फ़ितरती न होना। यह भारी कमी है। बिना धूर्त्त हुए, इस सदी में सफल संपादक कोई हो नहीं सकता।

शिवजी जब छपरा राजेंद्र कॉलेज में ही थे तब 'हिमालय' प्रकाशन की योजना बनी। उन्होंने इसके लिए कॉलेज से एक साल की छुट्टी ली-- अगस्त

1945 से अगस्त 1946 तक। 'हिमालय' में संपादक के रूप में शिवजी के साथ रामवृक्ष बेनीपुरी का नाम जाता था। दिनकरजी का नाम शायद इसलिए नहीं जाता था क्योंकि वे सरकारी नौकरी में थे। पर हिंदी-जगत में प्रसिद्ध था कि वे तीनों 'हिमालय' के संपादक हैं। हालांकि बेनीपुरीजी का योगदान देर-सबेर एक-दो संपादकीय टिप्पणियां लिख देने भर का था और दिनकरजी की भागीदारी उससे भी कम थी। शिवजी साहित्यिक पत्रकारिता और हिंदी-सेवा के प्रति किस हद तक समर्पित थे यह उनके 'हिमालय' के संपादन-कर्म से पता चलता है।

'हिमालय' को आज भी एक युगांतरकारी साहित्यिक पत्रिका मानते हैं। उसके रूप-स्वरूप के निर्माण में बेनीपुरीजी का भी बहुत महत्वपूर्ण योगदान था और उस समय के हिंदी-जगत में उसको सर-आंखों पर लिया था। 'मतवाला', 'गंगा' और 'जागरण' के कटु अनुभवों और साहित्यिक पत्रकारिता की तज्जनित अतृप्ति के कारण शिवजी कॉलेज से साल भर का अवकाश लेकर 'हिमालय' को अपना साहित्यिक सर्वस्व समर्पित कर देने की कामना लेकर उससे जुड़े थे। लेकिन इतिहास अपने को अक्सर बड़ी निर्ममता से दुहराता है। 'हिमालय' में उनके अनुभव कटुतम रहे। 'शिवपूजन सहाय : साहित्य-समग्र' (खंड-10) में वह लंबा पत्राचार प्रकाशित है जिससे इस पूरे आशोभनीय प्रसंग पर प्रकाश पड़ता है।

पूरा प्रसंग यह था कि 'हिमालय' का प्रकाशन पुस्तक-भंडार मूलतः एक पाठ्य-पुस्तक प्रकाशन-संस्था थी और वहां से साहित्यिक पुस्तकों का प्रकाशन हिंदी-जगत में हिंदी-हितैषणा का केवल एक छद्म-नाट्य जैसा था। असली कमाई का जरिया पाठ्य-पुस्तकें ही थी। साहित्यिक पुस्तकों से तो, लेखकों की रायल्टी नाम-मात्र या बिलकुल न देने के बाद भी, भरपाई मुश्किल से होती थी और 'हिमालय' तो शुरू से ही घाटे का सौदा रहा। झगड़ा शुरू हुआ था बेनीपुरीजी को लेकर। वे जेल से छूटकर आये थे और उनकी 'माटी की मूरतें' और 'अंबपाली' के प्रकाशन से वे राजनीति और साहित्य दोनों ही हलकों में एक साथ जगमग हो उठे थे। कुछ तो यह बात सबके गले नहीं उतर रही थी और कुछ अपनी अत्यधिक व्यस्तता के कारण वे 'हिमालय' को उतना समय दे नहीं पा रहे थे। पुस्तक-भंडार के मालिक रामलोचन शरण ने तय किया कि 'हिमालय' से संपादक के रूप में बेनीपुरी का नाम हटा दिया जाय। इस पर शिवजी ने अत्यंत मर्माहत होकर 'हिमालय' के तेरहवें और अपने संपादन के अंतिम अंक में 'भुजभंग' शीर्षक से एक मार्मिक संपादकीय टिप्पणी लिखी। लेकिन यह टिप्पणी इतनी तल्ख थी कि रामलोचन शरण ने इसे और एक-दो और टिप्पणियों को छपने से रोक दिया। तब उनकी ओर से उनके प्रबंधक परमेश्वर सिंह ने शिवजी को एक पत्र लिखकर उनकी आपत्तियां बताई। उसमें उन्होंने लिखा-- "आपने नये साल पर जो टिप्पणियां लिखी हैं वे यहां किसी को भी पसंद नहीं हैं।" इस पर शिवजी ने 21 जनवरी, 1948 के पत्र में उनको लिखा-- *क्या किसी को पसंद आने के लिए ही मुझे टिप्पणी लिखनी चाहिए? मैं अपने पाठकों के लिए संपादकीय लिखता हूँ, आप लोगों के लिए नहीं। संपादकीय में क्या उचित-अनुचित है, आवश्यक-अनावश्यक है, यह विचारना मेरा काम है, आप लोगों का नहीं। मेरी टिप्पणियों से न किसी प्रकार की हानि हो सकती थी और न अपकीर्ति हो सकती थी। फिर भी मैंने आंतरिक वेदना और मर्मभेदी ग्लानि का अनुभव करते हुए उन्हें काटकर निकाल दिया जिससे आप लोगों की आत्मा संतुष्ट रहे, मेरी तो कोई हस्ती ही नहीं।* इसके बाद फिर शिवजी ने परमेश्वर सिंह के 2 फरवरी 1948 के पत्र के उत्तर में लिखा - *क्षमा कीजिए, में संपादकीय विषयों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप बरदास्त करने में सर्वथा असमर्थ हूँ। मेरी उन टिप्पणियों में न कोई दुर्भावना थी और न कोई*

षडयंत्र था जबरदस्ती उन पर संदेह और शंका की दृष्टि डाली गई और मेरी सच्चाई और ईमानदारी में जबरदस्ती दुर्भाव सूंघा गया, जिसके कारण मैंने अनुभव किया कि मेरा अविश्वास किया गया है। ऐसी दशा में मेरा संपादक रहना ठीक नहीं है। संपादकीय विषयों में मैं ही निर्णय कर सकता हूं कि क्या आवश्यकय है और क्या अनुचित है। दूसरे किसी को उसमें सलाह और रुकावट देने का अधिकार नहीं होना चाहिए।..... मैं उन टिप्पणियों को अब सिर्फ वापस चाहता हूँ, उन्हें छपवाना अभीष्ट नहीं है। उनके विषय में जो सुनना था सो सुन चुका। उन्हें सिर्फ अपनी फाइल में रख कर कभी-कभी सजल नेत्रों से देखा करूंगा। बस और कुछ नहीं चाहता।

साहित्यिक पत्रकारिता में संपादक का काम काफी जोखिम से भरा होता है। उसका दायित्व जहां उसके साहित्यिक सिद्धांतों-आदर्शों से नियंत्रित होता है, वहीं वह प्रकाशक और लेखकों की असहिष्णुता से बाधित भी होता है। साहित्यिक संपादन-कर्म का सर्वोच्च न्यायकर्ता अंततः पाठक-वर्ग ही होता है। 'मतवाला' जब शुरू हुआ था तब उसकी 10,000 प्रतियां छपने लगी थी। कई बार अंकों का बारबार पुनर्मुद्रण करना पड़ता था। महादेवप्रसाद सेठ ने शिवजी को पूरी संपादकीय स्वतंत्रता दे रखी थी। 'मतवाला' से शिवजी का मतभेद संपादन में हस्तक्षेप के कारण नहीं हुआ था, बल्कि होली में घर जाते समय वेतन के पूरे पैसे न मिलने से हुए मनमुटाव के कारण हुआ था। मेरे द्वारा संपादित पुस्तक 'प्रेमचंद पत्रों में' के कुछ पत्रों से इस प्रसंग पर प्रकाश पड़ता है। 'मतवाला' में प्रबंधक की भूमिका नवजादिकलाल श्रीवास्तव की थी और आगे चलकर निराला और उग्र भी कुछ इसी तरह की शिकायतें लेकर 'मतवाला'-मंडल से अलग हुए थे।

जिन दिनों 'हिमालय' के मालिक के हस्तक्षेप से शिवजी छुब्ध थे, लगभग उन्हीं दिनों नवंबर, 1947 में पटना से प्रकाशित साप्ताहिक पत्र 'स्वदेश' में उनका एक लेख 'संपादक के अधिकार' शीर्षक से छपा था। वह लेख 'रचनावली' के तीसरे खंड में प्रकाशित है। उस लेख में उन्होंने साहित्यिक पत्रों के संपादकों के अधिकारों की चर्चा की थी। उसमें उन्होंने लिखा था कि हिंदी में तीन ही आदर्श पत्र-संचालक हुए इंडियन प्रेस इलाहाबाद के अधिष्ठाता चिंतामणि घोष जो आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के संपादन में 'सरस्वती' निकालते थे, 'विशाल भारत' के प्रकाशक रामानंद चटर्जी जिसके संपादक थे बनारसीदास चतुर्वेदी और श्रीराम शर्मा एवं 'आज' के प्रकाशक शिवप्रसाद गुप्त जिसके संपादक थे बाबूराव विष्णु पराड़कर। ये तीनों ही प्रकाशक अपने संपादकों का कितना सम्मान करते थे और उनको कितनी स्वतंत्रता एवं सुविधाएं दे रखी थी इसका पूरा विवरण देने के बाद वे अन्य संपादकों के अधिकार-हनन की चर्चा करते हुए लिखते हैं -

अभी तक संपादकों के अधिकारों की कोई परिभाषा नहीं तैयार हुई है और न कोई सीमा ही निर्धारित की गई है। किंतु साधारण रीति से यह स्वभावतः समझा जा सकता है कि संपादक अपने स्वास्थ्य और गौरव की रक्षा करते हुए पत्र को सुंदर, आकर्षक, उन्नत एवं लोकप्रिय बनाने के लिए जितने प्रकार के काम कर सकता है, सब उसके अधिकार के अंतर्गत हैं। जिसमें अनाड़ीपन और निरंकुशता है उसके अधिकार की चर्चा ही व्यर्थ है, परंतु जो अपने उत्तरदायित्व और पद-मर्यादा का पूरा-पूरा ध्यान रखता है, उसको तो अवश्य ही यथोचित अधिकार मिलना चाहिए। उसे पढ़ने के लिए पर्याप्त अवकाश, और साथ ही सुविधा भी दिया जाय। लेखकों, कवियों और चित्रकारों को यथेष्ट पुरस्कार देने में वह सर्वथा स्वतंत्र हो, निश्चय ही वह अपने पत्र की आर्थिक स्थिति से असावधान न हो। संपादकीय विभाग के सभी कार्यकर्ताओं पर एकमात्र उसी का नियंत्रण हो, तथा समागत पत्रों और पुस्तकों का स्वत्वाधिकारी भी वही हो। सहकारियों का चुनाव और उनकी पदोन्नति वही करे। पत्र की आर्थिक दशा के अनुसार पदोन्नति

करने में उसे पत्र-संचालक का मुँह न जोहना पड़े-- आर्थिक व्यवस्था के लिए संचालक से परामर्श कर लेना दूसरी बात है। अपनी या अपने अधीनस्थ कर्मचारियों की छुट्टी के लिए वह खुद ही जिम्मेदार रहे-- पत्र के संपादन और नियमित प्रकाशन की जिम्मेदारी रखते हुए। उसकी और उसके सहकर्मियों की वेतनवृद्धि का विचार उसके सहयोग और सद्भावना के सहारे ही किया जाय। इसी तरह के और भी साधारण-असाधारण अधिकार हैं; पर मुख्यतया इतने ही यथेष्ट हैं-- यदि इतने भी कहीं हिंदी-जगत की धरती पर सुलभ हों।

आज भी देश में विशेषतः हिंदी पत्रकारिता पूंजीपतियों के एकाधिकार में होने का ख़ामियाजा भुगतने को अभिशप्त है। पुस्तक-प्रकाशकों का रवैया भी शिवजी के साथ कैसा रहा इसकी लंबी गाथा भी इतनी ही करुणाजनक है या शायद इससे भी कहीं ज्यादा। आज भी हिंदी के प्रकाशक लेखकों का कमोबेश वैसा ही शोषण करते हैं। यह हिंदी का दुर्भाग्य रहा है, और उसकी उन्नति की राह में सबसे बड़ी बाधा। हिंदी के प्रकाशकों ने ही हिंदी का सर्वाधिक अहित किया है। विश्व-साहित्य में हिंदी की उपेक्षा का एक बड़ा कारण रहा है हिंदी-लेखक का प्रकाशकों द्वारा आर्थिक शोषण जिसके एक बड़े उदाहरण भी शिवपूजन सहाय हैं। इसकी भी एक अलग दास्तान है, जिसकी ओर यहां इशारा ही काफी है।

शिवपूजन सहाय के संपादन-कर्म को उनके सृजन-कर्म से अलग करके देखना उचित नहीं होगा। वे मूलतः एक रचनाकर्मी थे। संपादन उनकी अपनी रचना-प्रकिया का अभिन्न अंग था। वे एक श्रेष्ठ रचनाकार थे और पत्रकारिता पर अवलंबित संपादन-कर्म उनके लिए जीविकोपार्जन की विवशता बन गया। यदि वे भी प्रेमचंद की तरह बी.ए. कर पाते और स्थिर नौकरी करते होते तो शायद उनकी रचना-धारा का प्रवाह भी भिन्न होता। असहयोग आंदोलन में सरकारी स्कूली नौकरी से त्यागपत्र देने के बाद पत्रकारिता के क्षेत्र में आजीविका की तलाश उनकी विवशता बन गई। इस विवशता ने उनको संपादन-कला के आचार्यत्व से तो विभूषित किया, लेकिन इसी विवशता ने लेखकों और प्रकाशकों द्वारा उनका अत्यधिक शोषण भी कराया। उन्हीं लोगों ने उनको मात्र एक "प्रूफ-रीडर" की पदवी से नवाजा जिनकी कई कविता-पुस्तकों का उन्होंने आद्योपांत भाषा-संस्कार किया। दूसरों की रचनाओं को स्मरणीय बनाने में ही उन्होंने अपने रचनाकार को विस्मृत कर दिया।

रचनाकार शिवपूजन सहाय की ही तरह संपादक शिवपूजन सहाय के महत्वपूर्ण योगदान का सम्यक मूल्यांकन अभी शेष है। अब जब उनका 'साहित्य समग्र' हिंदी-जगत में प्रकाशित होकर आ चुका है और वह पूरी संदर्भ-सामग्री शोधार्थियों के लिए उपलब्ध हो चुकी है, तब उनकी संपादन-कला का अध्ययन करने के लिए वह पूरा साहित्यिक तथा प्रकाशकीय परिप्रेक्ष्य उजागर है, जिसके साथ शिवपूजन सहाय के साहित्यिक अवदान का उचित मूल्यांकन आज किया जा सकता है। सौभाग्य की बात यह है कि स्वयं शिवपूजन सहाय अपनी कई पुस्तकों की पांडुलिपियों, प्रूफ-कापियों, तथा दूसरे लेखकों की अपने द्वारा संशोधित पांडुलिपियों का एक बहुत बड़ा और अत्यधिक महत्वपूर्ण संग्रह छोड़ गये हैं, जिन्हें उनके नाम पर स्थापित न्यास ने दिल्ली के नेहरू संग्रहालय में सुरक्षित रखवाया है। उनके द्वारा संगृहीत हजारों पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाओं की फाइलें, उनकी डायरियां उनका सारा पत्र-संग्रह सब कुछ वहीं सुरक्षित रखा गया है। 'द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ' की संशोधित पांडुलिपि काशी के भारत कला भवन में है। 'राजेंद्र अभिनंदन ग्रंथ', 'बिहार की महिलाएं' (जो जयप्रकाशजी की प्रेरणा से शिवजी द्वारा संपादित राजेंद बाबू को समर्पित अंतिम ग्रंथ है) और 'जागरण' पत्रिका व सभी शिवजी द्वारा संशोधित

पांडुलिपियां भी नेहरू संग्रहालय में ही सुरक्षित हैं। उसमें छायावाद-युग और उसके बाद के बड़े-छोटे सभी लेखकों की शिवजी द्वारा संशोधित पांडुलिपियां भी सुरक्षित हैं।

डॉ. परमानंद श्रीवास्तव ने उनकी स्मृति में पटना में आयोजित एक संगोष्ठी में अपने भाषण में शिवपूजन सहाय के समग्र लेखन के बारे में अपना स्मरणीय वक्तव्य दिया था ---

कुछ *लेखक ऐसे होते हैं जो अपने समय में तो महत्वपूर्ण होते ही हैं, समय जैसे-जैसे आगे जाता है, वैसे-वैसे उनके महत्व के नये रूपों की खोज शुरू होती है। उनका नये सिरे से आविष्कार किया जाता है, नये सिरे से उनको पढ़ा जाता है। आचार्य शिवपूजन सहाय एक ऐसे लेखक थे जिन्हें आप हिंदी नवजागरण के स्तंभों में गिन सकते हैं।..... वे हिंदी नवजागरण के बहुत सारे रूपों को अपने लेखन में चरितार्थ करने वाले लेखक थे। एक बहुत सीमित अर्थ में वे साहित्यकार स्वभाव के लेखक न थे। कवि, कथाकार से बड़ा व्यक्तित्व लेकर, और भिन्न प्रकार का व्यक्तित्व लेकर वे आये थे। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का स्मरण हम उनकी संपादन-कला के लिए करते हैं, पर उनके लिए भी साहित्य का अर्थ था व्यापक अर्थों में साहित्य। उन्होंने साहित्य की बड़ी परिभाषा की, जिसमें बड़ा जीवन समाया हुआ है, और जिसमें लेखन की और अनुभव की बहुत सारी प्रणालियां और पद्धतियां एक साथ सक्रिय होती हैं। वास्तव में ये वे लेखक थे जो अपनी बड़ी जीवनी शक्ति के लिए बराबर याद किये जाएंगे।*

उत्तर-द्विवेदी युग के साहित्यकारों ने हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता का वरण किया था, हिंदी-सेवा के साथ-साथ देश-सेवा के हित में। राष्ट्रीय-भावना उसमें सर्वोपरि थी। शिवपूजन सहाय ने भी 1920 के असहयोग आंदोलन में स्कूल की सरकारी नौकरी छोड़कर आजीविका के लिए साहित्यिक पत्रकारिता का मार्ग इसी कारण चुना था और पत्रकारिता के क्रम में ही उन्होंने संपादन-कर्म में कालांतर में अनन्यता प्राप्त की थी। संपादन-कर्म शिवपूजन सहाय की सृजनशीलता का अनिवार्य अंग था और उनके समग्र रचना-कर्म के अनुशीलन में उनके वृहदाकार संपादन-कर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उपन्यासकार, निबंधकार, संस्मरण-व्यंगकार, बाल-साहित्यकार, समीक्षक तथा कई पत्रिकाओं के संपादक रहे। आचार्य शिवपूजन सहाय के उल्लेखनीय कृतित्व के लिए उन्हें भागलपुर वि. वि. ने डी. लिट् की मानद उपाधि तथा भारत सरकार ने 'पद्मभूषण' उपाधि देकर सम्मानित किया।

'रजनीगंधा', ए-1/9, विराट खंड--1,
गोमती नगर, लखनउ - 226010
मो.-07752922938

●

शक्ति जीवन है, निर्बलता मृत्यु है। विस्तार जीवन है, संकुचन मृत्यु है। प्रेम जीवन है , द्वेष मृत्यु है।

केदारनाथ सिंह की कविता : ग्रामीण-नगरीय बोध की सर्जनात्मक फलश्रुति

डॉ. व्यास मणि त्रिपाठी

कविता को सामाजिक कर्म मानने वाले केदारनाथ सिंह ने समाज के प्रगतिशील तत्वों और उच्चतर मानवीय मूल्यों को हर प्रतिकूल झोंकों से बचाने का जो प्रयत्न किया है उसका साक्ष्य लगभग छह दशक के काल-खण्ड में सृजित उनकी कविताएं हैं। बेहतर दुनिया की उम्मीद का भास्वर विधान उनके काव्य-लोक को जो भव्यता प्रदान करता है उसकी पृष्ठभूमि में उनकी आस्था प्रवण मानवीय दृष्टि है। उसी से उनके भीतर जीवन की हल्की से हल्की आवाज का प्रतिनिधित्व करने का संकल्प पैदा हुआ है और वह साहस भी जिससे कला का संघर्ष आत्म-संघर्ष का रूप ग्रहण करता है। उनका यह विश्वास कि **'यह पृथ्वी रहेगी',** जड़-चेतना से तादात्म्यीकरण की प्रक्रिया से गुजरते हुए उनके व्यापक सृष्टि-बोध को उजागर करता है तो **'नक्शा'** के माध्यम से उनकी विश्व-चेतना प्रकट होती है। ग्रामीण ठेठ वातावरण से शहर के धुमैले आकाश तक मानवीय अस्मिता की विभिन्न परतों को खोजने-खोलने के साथ ही उसके विकास की संभावनाओं को तलाशने का उनमें सूक्ष्म काव्य-विवेक है तो चीजों को उसकी वस्तुनिष्ठता में देखने परखने की एक नवीन दृष्टि भी है। इनके सहज विकास से केदारनाथ सिंह की कविता का परिसर इतना विस्तृत है कि उसमें समग्र जीवन की छोटी-बड़ी छवियों को बिम्बित हुआ देखा जा सकता है। उसमें 'लोक' की विभिन्न मुद्राएं और भाव-ध्वनियां हैं जिनमें नगरीय बोध की उपस्थिति भी है। परम्परा से बचकर निकलने की कसमसाहट है तो आधुनिकता की एकायामी मूल्य-व्यवस्था के प्रति असहमति भी है। जीवन की समग्रता में भारतीय आधुनिकता की तलाश का प्रयत्न है तो पाश्चात्य साहित्य के उपकरणों के प्रति एक लगाव भी है। उनकी कविता को 'सीधे बयान के रूप में अर्थपूर्ण कविता' होने का गौरव प्राप्त है तो उस पर अस्पष्टता और दुरूहता का आरोपण भी है। बिम्ब-विधान की अनिवार्यता पर जोर है तो सहजता का देसी ठाठ भी है। रास्ते की धूल से उठाये हुए शब्दों में गुलाबी महक भरने की कला-क्षमता है तो जीवन की निरंतरता का अर्थपूर्ण संकेत देने वाले शब्दों का कौतुक भी है। ये ही विशेषताएं केदारनाथ सिंह के कवि को उनके समकालीनों में विशिष्ट बनाती हैं और नई पीढ़ी में उनके अनुकरण का आकर्षण पैदा करती हैं।

गीतों से काव्यारंभ करने वाले केदारनाथ सिंह की काव्य-चेतना का आधार 'लोकभूमि' है। लोक जीवन के प्रसंगों तथा लोक धुनों में रची-बसी कविताओं ने उनकी जो छवि निर्मित

की उसने तत्काल पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया। *'झरने लगे नीम के पत्ते' 'बढ़ने लगी उदासी मन की'* तथा *'रात पिया, पिछ्वारे पहरू ठनका किया'* जैसे गीतों में लोगों ने छायावादोत्तर कविता के बासीपन भरे वातावरण में हवा की ताजगी महसूस की थी। ग्राम-जीवन और प्रकृति की तीक्ष्ण संवेदनशीलता से ओत-प्रोत उनका यह गीत *'धान उगेंगे कि प्रान उगेंगे/ उगेंगे हमारे खेत में/ आना जी बादल जरूर"*, अपनी मोहकता में कण्ठहार बनने की क्षमता से पूर्ण था तो इसलिए कि उसमें लोक तत्वों का माधुर्य सन्निविष्ट था। अपने समकालीनों से अलग केदारनाथ सिंह की जो आभा निर्मित हुई थी उसका कारण उनकी कविताओं में लोक-संस्कृति की रची बसी गन्ध थी। आम के बौर, हल्दी-चन्दन, गन्धवर्णीबादल, चिड़चिड़ी धूप, बेहया हवा, सर्द छुअन, हल-कुदाल, नन्हा बीज, बरगद, चौखट, आँगन, चौराहा, पगडंडी, नदी, गगरी, चावल, झबरा, गेंदा आदि की मौजूदगी थी। इनमें संघर्षरत आम आदमी के बेहतर भविष्य का स्वप्न था, समस्याओं से टकराने और प्रश्न करने का साहस था, नये काव्य-मुहावरों को गढ़ने का उत्साह था। इसी जमीन की केदारनाथ सिंह की कविताएं-- **'दुपहरिया', 'बसंत गीत', 'धानों का गीत', 'शरद प्रात', 'कुहरा उठा', 'बादल ओ', 'पात नए आ गए', 'पतझड़ की एक शाम', 'सूर्यास्त', 'मार्च की सुबह', 'चाँदनी', 'पपीहा'** आदि जब तीसरे सप्तक में प्रकाशित हुई थी तब उनका भरपूर नोटिस लिया गया था। इस सप्तक की कुछ कविताएं बाद में **'अभी बिल्कुल अभी'** संग्रह में शामिल कर ली गई थी जिससे उनका महत्व स्वतः सूचित होता है। यह संग्रह कवि की रागात्मक अनुभूतियों और गीतात्मक संवेदना के धरातल पर उनके काव्य-बोध का प्रथम चरण है। इसकी भाव-भूमि में गांव को केन्द्रीयता तो प्राप्त है लेकिन नगरोन्मुखता भी दृष्टिगत होने लगती है। यह कवि-मानस पर नगर-निवास का प्रभाव हो सकता है। वैसे महानगर में भी प्रयास के बावजूद केदारनाथ सिंह की काव्य-संवेदना की जमीन 'लोक' ही है। यह बात अलग है कि ये गांव, परिवेश, प्रकृति से जुड़े रहकर भी नगरीय बोध से संपन्न हो आधुनिकता में जाते हैं और फिर अचानक उत्तर आधुनिक भी हो उठते हैं जिसका प्रमाण **'उत्तर कबीर और अन्य कविताएं'** है।

केदारनाथ सिंह की कविताएं उस परिवेश और जमीन की उपज हैं जिनमें एक ओर ग्राम्य जीवन और उसकी संस्कृति यानी धूल-मिट्टी, खेत-खलिहान, नदी-कछार, होली-फाग, चैता, कजरी, बिरहा-सोरठा, गेहूं-धान, तीसी-सरसों, आलू आदि का सन्निवेश है तो दूसरी ओर कस्बा, शहर, नगर और महानगर का बोध शामिल है। यह बोध उनके चिंतन-मनन तथा अध्ययन को और अधिक विस्तार देता है। साथ ही वह काव्य-विवेक भी देता है जिसके आधार पर कविता के बारे में सोचते हुए उन्हें 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की मूछें और मूछों में दबी बारीक सी हंसी और हंसी के पीछे कविता का राज' की स्मृति हो आती है। केदारनाथ सिंह गांव और शहर दोनों के कवि हैं लेकिन उनका कवि मन महानगर में उतना नहीं बसता जितना गांव में। दिल्ली में रहकर भी उनकी कविता का संसार दिल्ली से बाहर का है। उनका स्वयं का कहना है-- "मुझे लगता है कि गांव के साथ यह जो मेरा लगातार आने-जाने का अटूट रिश्ता है वही मेरे भीतर के कवि को जिलाये हुए है। सिर्फ मेरे ही भीतर के कवि को नहीं- हम सबके भीतर के रचनाकार को जो कहीं न कहीं आज भी उस करइठ मिट्टी से जुड़े हुए हैं। दिल्ली में इस जुड़ाव की अहमियत कुछ ज्यादा ही तल्खी के साथ महसूस होती है।" (परमानन्द श्रीवास्तव के नाम पत्र)। यह बात अलग है कि घर में घुस आये बाजार के कारण संबंधों की दुनिया का जो भौतिकीकरण हुआ है उससे कवि का गांव के लोग-बाग से लगाव विगलित हुआ है। उसे 'गांव आने पर' वह खुशी नहीं मिलती जिसके लिए वह बार-बार गांव आता है। वह

स्वयं से पूछता है- *"अब आ तो गया हूँ/ पर क्या करूँ मैं/ एक बूढ़े पक्षी की तरह लौट लौट/ मैं यहां क्यों चला आता हूँ बार-बार/ पृथ्वी पर ऊब क्या उतनी ही पुरानी है जितनी दूब/-- जो मेरे नहीं हैं/आखिर वे भी तो मेरे ही हैं। चाहे जहां भी रहते हों/फिर क्यों यह जिद/ कि यही-यही/ सिर्फ यही मेरा घर है?- अपनी सारी गर्द/और थकान के साथ/अब आ तो गया हूँ/ पर यह कैसे साबित हो कि उनकी आंखों में / मैं कोई तौलिया या सूटकेस नहीं / मैं ही हूँ /- छू लूँ किसी को? कि लिपट जाऊँ किसी से? मिलूँ/ पर किस तरह मिलूँ/ कि बस मैं ही मिलूँ/ और दिल्ली न आए बीच में।"* जाहिर है गांव से विस्थापित होकर नगर में रहने वाला पूरी तरह अपने को नगर में समायोजित नहीं कर पाता। गांव और नगर को एक साथ पाने और खोने का द्वन्द्व उसके जीवन का एक भयावह सच बन जाता है। केदारनाथ सिंह इस पृष्ठभूमि में जो अनुभव बटोरते हैं उससे उनकी काव्य संवेदना को विस्तार मिलता है। उनका मानना है कि "नगर केन्द्रित आधुनिक सृजनशीलता और ग्रामोन्मुख जातीय चेतना के बीच जब तब मैंने एक खास किस्म के तनाव का भी अनुभव किया है। तनाव हमारे दैनिक सामाजिक जीवन की एक ऐसी जानी पहचानी वास्तविकता है जिसकी ओर अलग से हमारा ध्यान कम ही जाता है। मेरे लिए वह अनुभव एक 'एस्थेटिक' बोध भी है और एक गहरे अर्थ मे मेरी नैतिक चेतना का एक अविच्छिन्न हिस्सा भी। अपने रचना कर्म में मेरी एक कोशिश यह भी होती है कि उसमें अनुभव के इन दोनों स्तरों की अंतःक्रिया किसी हद तक समाहित हो सके। वह किस हद तक संभव हो पाती है यह बताना मेरे लिए कठिन है पर वह मेरी रचना प्रक्रिया का एक जरूरी हिस्सा है, इसे मैं भूलना नहीं चाहता।" (मैं बोलता हूँ, इसलिए लिखता हूँ, कवि-वक्तव्य, साहित्य अकादेमी पुरस्कार अर्पण समारोह)।

गांव और नगर का अन्तर्द्वन्द्व केदारनाथ सिंह के समकालीन सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के यहां भी है। उनकी प्रसिद्ध कविता 'कुआनो नदी' में विस्थापन बोध है। श्रीकांत वर्मा की कविता 'घरधान' की जमीन भी लगभग वही है। त्रिलोचन, केदारनाथ सिंह के काव्य-गुरु हैं। उनकी कविता में ठेठ जीवन का विशुद्ध ठाठ है इसीलिए उसमें स्थानीयता है। केदारनाथ सिंह त्रिलोचन की परम्परा का अनुगमन करते हुए भी उसका अतिक्रमण करते हैं तो इसलिए कि उनमें नगरीय बोध है। वे भूमंडलीकरण तथा विश्व बाजार की रीति-नीति, आवश्यकता और खतरों से परिचित हैं। महानगरों की जीवन-शैली, संवेदनहीनता तथा मिथ्या दंभ आदि के बारे में अच्छी तरह जानते हैं। अतः उनकी कविता नगरीय बोध से सम्पन्न हुए बिना रह ही नहीं सकती लेकिन उसकी अभिव्यक्ति की राह गांव से होकर ही जाती है। घबराहट, बेचैनी और आकुलता के क्षणों में जब उन्हें रास्ता नहीं सूझता है तब वे मुट्ठी में प्रश्न ले इधर-उधर दौड़ते भी हैं-- *"मुट्ठी में प्रश्न लिए/ दौड़ रहा हूँ वन-वन/ पर्वत-पर्वत/ लाचार।" फिर अचानक उन्हें महसूस होता है कि-- "रास्ता था/ सिर्फ हमीं भूल गए थे / जाना किधर है।" कवि को रास्ता दिखने भी लगता है- 'उधर घास में/धँसे हुए खउर की तरह! चमक रहा था रास्ता/....गाय थी। किसान था।"* यही केदारनाथ सिंह की काव्य-यात्रा का वास्तविक रास्ता है। इस पर चलते हुए उन्हें 'कस्बे की धूल' भी मिलती है-- *"मैं जानता हूँ क्योंकि यह धूल/ इस कस्बे की/ और मेरे पूरे देश की/ सबसे जिंदा और खूबसूरत चीज है।"* कहना न होगा कि उनकी ग्रामीण संवेदना और नगरीय बोध दोनों की घुलाइट उन्हें एक भारतीय कवि के रूप में प्रतिष्ठित करती है-- वह भारतीय कवि जिसका उल्लेख उन्होंने कविता के ठोस सन्दर्भ के बारे में ध्यान केन्द्रित करते हुए साहित्य अकादेमी के पुरस्कार-अर्पण समारोह के अवसर पर दिये गए वक्तव्य 'मैं बोलता हूँ, इसलिए लिखता हूँ' में किया है-- "कविता की भूमिका या उसके पूरे स्वरूप पर विचार करते हुए मुझे यह आवश्यक लगता है कि उस

ठोस सन्दर्भ को दृष्टि से ओझल न होने दिया जाए, जिसमें एक भारतीय कवि आज रचनारत है। इस तथ्य की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है कि जिस सीमा रेखा पर खड़े होकर आज ज्यादातर भारतीय कविता लिखी जा रही है, वहां हमारी जातीय चेतना के दो छोर यानी शहर और गांव अजब ढंग से घुले-मिले होते हैं। कई बार इस घुलावट को कवि जानता है और कई बार वह बिना जाने ही उसे अपने संपूर्ण बोध का हिस्सा बन जाने देता है। भारतीय कवि के वास्तव-बोध की एक यह ऐसी विशेषता है जो उसे पश्चिमी काव्य की संवेदना से अलग करती है।" संवेदना केदार की कविता की ताकत है। अपनी पीढ़ी के कवियों में वे अकेले ऐसे कवि हैं जिन्होंने गांव और शहर के अनुभव तथा संवेदना का सघन संश्लिष्ट उपयोग किया है। इसी अर्थ में उनकी कविता भारतीय कविता का प्रतिनिधित्व करती है।

केदारनाथ सिंह के लिए 'गांव' एक मूल्यदान संवेदना है। वह पुराने प्रगतिशील कवियों की उस संवेदना से थोड़ी भिन्न है जो गांव की गरीबी, अशिक्षा, भूखमरी, दुर्दशा और संघर्ष पर केंद्रित थी। केदार की ग्रामीण संवेदना में कुछ-कुछ अमूर्तता है। गांव की हर चीज उनके लिए एक भाव है-- ऐसा भाव जिससे मनुष्यता को संपोषण मिलता है। इनके यहां परिवेश और प्रकृति के साथ मानवीय निरन्तरता का जीवन्त अनुभव कविता को एक नया संगठन देता है। दिल्ली में कवि को जो 'चिट्ठी' मिलती है उसे नदी ने भेजा है। इस अमूर्तीकरण विधान से कविता की अर्थवत्ता और उसका सौन्दर्य निखर उठा है- *"कल गांव से / एक चिट्ठी आई / बहुत दिनों बाद / शायद नदी ने भेजी थी। न दिन/न तारीख/ न सिरनामा / बस ऊपर कोने में/ एक बूंद की तरह / टँका था/ छोटा सा प्यारा सा/ गांव का नाम / चकिया।"* (अकाल में सारस, पृ.47)। शहर के सबसे व्यस्त चौराहे पर कवि बिना किसी की फिक्र किये देर तक उस चिट्ठी को पढ़ता रहता है जिसमें सिर्फ एक ही शब्द लिखा है-- 'चकिया'। यह चकिया न गांव की चौहदी है न प्रकृति, न वहां के लोग बल्कि गांव में जो कुछ भी मूल्यवान है उसी का यह वाचक है। 'चकिया' के माध्यम से कवि बहुत कुछ अभिव्यक्त करता है। गांव से उसकी रागात्मकता तो प्रकट होती ही है, गांव का पूरा परिवेश भी उभरकर सामने आ जाता है। ऐसा लगता है कि किसी भीड़ में माँ से बिछुड़कर 'माँ', 'माँ' चीखते हुए बच्चे के समान केदारनाथ सिंह भी पुकार रहे हों-- 'चकिया','चकिया'। स्मृति लोप के इस भयावह समय में भी अपनी जड़ों से अविच्छिन्नता कमाल की चीज है।

गाँव और गँवई संवेदना पर लिखी रचना के आंचलिक हो जाने की संभावना रहती है। आंचलिक को अखिलदेशीय बनाने के लिए बड़ी रचनात्मक प्रतिभा की जरूरत होती है। फणीश्वरनाथ रेणु के बाद बड़े आंचलिक रचनाकार के अभाव का यह एक कारण हो सकता है। केदारनाथ सिंह ने 'गांव' को अपनी कविता के केन्द्र में रखते हुए भी उसे आंचलिक नहीं होने दिया है। उनकी कविता में गांव का जीवन अपने विस्तार में संपूर्णता का जीवन बनकर आता है जिसमें देश और कभी-कभी विश्व की समाहिति रहती है। इसी अर्थ में उनकी कविता मानव के सुख-दुख की कविता है। आशा-आकांक्षा, प्रेम और उमंग, क्रोध और घृणा की कविता है। उन्होंने गांव को पारंपरिक ढंग से कम, आधुनिक ढंग से अधिक देखा है। 'अकाल में सारस' की एक कविता है-- 'सूर्यास्त के बाद एक अँधेरी बस्ती से गुजरते हुए।' यह गांव की रात का जितना सूक्ष्म विवरण है उससे कहीं अधिक मानव जीवन की रात का। इसमें अन्धकार के साथ-साथ प्रकाश की भी अवतारणा है। अन्धकार के अनेक स्तर हैं वैसे ही प्रकाश के भी। कविता में बहुत दूर तक अंधकार और प्रकाश के बिम्ब साथ-साथ गोचर होते हैं लेकिन आगे चलकर अंधकार बलवान हो जाता है और वह मृत्यु का संकेतक भी प्रतीत होने लगता है। झुकी हुई बूढ़ी निगाह, ताकती आँखों का

सन्नाटा, सिवानों पर स्यारों के फेंकरने की आवाजें, बिच्छुओं के उठे हुए डंक, भूख का हाँका आदि भय और मृत्यु के ही संकेतक हैं। फिर आता है-- 'छोटी-सी साँस की डिबिया में पूरा ब्रह्माण्ड' भरने का प्रसंग। यह प्रकाश का प्रतीक है, अमरता का द्योतक है। इस तरह पूरी कविता में अंधकार और प्रकाश के विम्ब हैं जो कविता को एकार्थी और सरल होने से बचाते हैं। केदारनाथ सिंह की कविताएं भले ही गाँव की माटी-पानी से उपजी हैं लेकिन वे गांव की आबोहवा के समान सहज और सरल नहीं हैं। इसी सन्दर्भ में उन पर क्लिष्टता और दुरूहता का आरोप लगाया जाता है। हालांकि कविता के नये दौर में यह कविता के नये होने की पहचान के रूप मे रेखांकित है।

बेहतर दुनिया और बेहतर मनुष्य साहित्य की संकल्पना का एक महत्वपूर्ण आयाम है। केदारनाथ सिंह की कविता में भी यह संकल्पना मौजूद है। उनकी कविता आधुनिकतावाद और उग्रक्रान्तिकारिता के बीच कोमलता का रास्ता अपनाते हुए बेहतर दुनिया की कल्पना के पथ पर अग्रसर होती है। इसी यात्रा में जब कवि को भूख, गरीबी, बेबसी और लाचारी का साक्षात्कार होता है तब उसके भीतर का दर्द प्रकट हुए बिना नहीं रहता--- *"यों हम हो गये शुद्ध / यों हम लौट आये/ जीवितों की लम्बी उदास बिरादरी में/कुछ नहीं था/सिर्फ कच्ची दीवारों/और भीगी खपरैलों से/किसी एक के न होने की/गंध आ रही थी।"*

इसे पढ़ते हुए भवानी प्रसाद मिश्र का स्मरण हो आता है जिन्होंने लिखा था-- "तंग गलियों में कहीं बच्चे खड़े हैं / लाल हैं पर भाग पत्थर से लड़े हैं/ धूल के हीरे नहीं अब धूल हैं ये/ फूल जंगल के नहीं अब शूल हैं ये। इसमें जो दारुण दृश्य उभरा है लगभग वही चित्र केदारनाथ सिंह की कविता में भी है। समाज-चिंतन समाजशास्त्रियों के यहां ब्यौरा बनकर आता है जबकि वही कविता में संवेदना की संपत्ति के साथ हृदय की आवाज बनकर। इसीलिए वह मार्मिक, संवेदनशील, हृदयद्रावक तथा सह-अनुभूति कराने वाला होता है। समर्थ कवि ब्यौरे को भी कविता के उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित करना जानता है। केदारनाथ सिंह की कई कविताएं ब्यौरे के रूप में आती हैं लेकिन उनका जादू इसलिए सिर पर चढ़कर बोलता है कि उनमें गजब का कवि-सामर्थ्य सन्निहित रहता है। 'पानी में घिरे हुए लोग' का सामाजिक सरोकार अपनी अर्थवत्ता में जो उत्कर्ष प्राप्त करता है वह सामान्य कवि से संभव नहीं हो सकता था। केदारनाथ सिंह ने प्रतिवर्ष बाढ़ की त्रासदी झेलने वाली जनता के संकट संघर्ष और जिजीविषा को इस तरह प्रस्तुत किया है कि उसमें स्थानीयता से ऊपर भारतीयता का परिप्रेक्ष्य शामिल हो गया है। सामान्यतः संकट ग्रस्त मनुष्य ईश्वर, धार्मिक विश्वास अथवा कर्मकाण्ड की शरण में जाता है लेकिन पानी में घिरे हुए लोग ऐसा नहीं करते- *"पानी में घिरे हुए लोग / प्रार्थना नहीं करते/ पूरे विश्वास से देखते हैं पानी को/ और एक दिन / बिना किसी सूचना के/खच्चर बैल या भैंस की पीठ पर / घर असबाब लादकर/ चल देते हैं कहीं और।"* यह लोगों की जिजीविषा ही है जिससे वे जीने का रास्ता निकाल लेते हैं-- *"पानी में घिरे हुए लोग / अपने साथ ले आते हैं पुआल की गन्ध / वे ले आते हैं आम की गुठलियाँ / खाली टिन / भुने हुए चने / वे ले आते हैं चिलम और आग।"*

मानव-जीवन के विकास में 'आग की खोज' का जो महत्व है लगभग वही महत्व संकटग्रस्त मनुष्य के जीवन में आग को बचाये रखने का भी है। अण्डमानी लोक कथाओं में एक कथा आग को बचाये रखने के उपायों से ही संबंधित है। आग जीने की उम्मीद है, आशा है। इसीलिए यह प्रयत्न होता है कि आग बुझने न पाये। 'पानी में घिरे हुए लोग' *"हर कीमत पर अपनी चिलम के छेद में/ कहीं न कहीं बचा रखते हैं/थोड़ी सी आग"* (वही)। केदारनाथ सिंह के यहाँ 'आग' की अनेक भूमिकाएं हैं। वह अन्धकार के विरुद्ध एक सार्थक हथियार है। पशुता के विरुद्ध मानव-रक्षा का कवच है। भूख के बारे में वह एक

बयान है। 'जमीन पक रही है' में आँच और ताप की महिमा की ओर बार-बार इशारा अनायास ही नहीं है बल्कि वह जीवन में आलोक पर्व का संकेतक है। जहां आलोक है वहां उल्लास है, मंगल है, जीवन रस का स्रोत है। फिर भला कौन चाहेगा कि हमारे जीवन से आग का खात्मा हो जाए। केदारनाथ सिंह की कविताओं में आग को बचाये रखने के प्रयत्न उसी रूप में दिखाई देते हैं जैसे हमारी माताएं / दादियाँ बोरसी में उपले डालकर आग को सुलगाये और बचाये रखती थी। उनकी एक कविता है 'पिता'। इसमें आदिम व्यथा को बुझने न देने का जो संकल्प है वह क्या 'बोरसी' की याद नहीं दिलाता है-- *"मुझे दिये जाओ/ मैं रखूँगा /गिरने न दूँगा/ कभी बुझने न दूँगा / पिता वह आदिम व्यथा / जो कि तुमको मिली थी / एक सोने की जलती पिटारी में बंद / कहीं बरसों से/ इस घर की अनजानी / मिट्टी में गड़ी हुई।"* यहां कविता का संकेतार्थ भले ही भिन्न है लेकिन कविता संभव हुई है कवि की देखी हुई बोरसी में आग बचाये रखने की प्रक्रिया की स्मृति से ही। 'शीत लहरी में एक बूढ़े आदमी की प्रार्थना' कविता के अंत में कवि ने 'बोरसी' का बहुत साभिप्राय प्रयोग किया है--- *"मेरे ईश्वर /क्या मेरे लिए इतना भी नहीं कर सकते/कि इस ठंड से अकड़े हुए शहर को बदल दो /एक जलती हुई बोरसी में।।" (यहां से देखो, पृष्ठ 67)।*

कविता जब 'रोटी' की चिंता करती है तब उसके कई पहलू उभरकर सामने आते हैं। रोटी और आग का संबंध बड़ा नैसर्गिक है। केदारनाथ सिंह रोटी को "समूची आग की गंध में बदलती हुई / दुनिया की सबसे आश्चर्यजनक चीज" मानते हैं। यह उन्हीं का दौर था जब रोटी आकाश में टँगे चाँद के रूप में कल्पित हुई थी। केदारनाथ सिंह की 'रोटी' कविता में न तो प्रगतिवादियों जैसी भावुकता है और न ही साठोत्तरी कविता जैसी वक्तृता, बल्कि जीवन के विभिन्न स्तरों को बिम्बात्मक धरातल पर उभारने की कोशिश है। यह स्तर राजनीति, अर्थनीति, नीतिशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र का भी हो सकता है। उनके यहां आदिम सन्दर्भ भी है लेकिन इस रूप में-- "रोटी का पकना लौटना नहीं है जड़ों की ओर"। गोल, खूबसूरत, सूर्ख और पकी हुई रोटी आदमी की नींद और विचारों को उत्तेजित करती है। रोटी के लिए आग की जरूरत होती है। भीतरी और बाहरी आग दिखाने के लिए कवि लोगों को आमंत्रित भी करता है-- "मैं सिर्फ आपको आमंत्रित करूँगा / कि आप आएं और मेरे साथ सीधे / उस आग तक चलें / उस चूल्हे तक जहां यह पक रही है/ एक अद्भुत ताप और गरिमा के साथ।" यद्यपि केदारनाथ सिंह को यह मुगालता नहीं है कि कविता से क्रान्ति होगी फिर भी उनकी 'रोटी' कविता में क्रान्ति चेतना की मौजूदगी देखी जा सकती है। आग, भूख, बयान, दीवार जैसे शब्द इसी पृष्ठभूमि के संकेतक हैं। 'भूख के बारे में आग का बयान जो दीवारों पर लिखा जा रहा है।' यह राजनैतिक सन्दर्भ तो देता ही है, क्रान्तिकारिता की आंच भी देता है--*"आप विश्वास करें /मैं कविता नहीं कर रहा /सिर्फ आग की ओर इशारा कर रहा हूँ/वह पक रही है/और आप देखेंगे-यह भूख के बारे में /आग का बयान है जो दीवारों पर लिखा जा रहा है।"* (जमीन पक रही है, पृष्ठ 23)।

केदारनाथ सिंह ने 'जमीन पक रही है' की एक कविता में लिखा है-- *''यह जानते हुए कि लिखने से कुछ नहीं होगा / मैं लिखना चाहता हूँ।"* लेकिन उसी की अंतिम कविता में यह भी लिखा है-- *"कविता यही करती है / यही सीधा मगर जोखिम भरा काम / कि सारे शब्दों के बाद भी / आदमी के पास हमेशा बचा रहे / एक सादा पन्ना।"* यह सादा पन्ना क्या है? तो उसके उत्तर में कहा जा सकता है कि यह सौन्दर्यात्मक मूल्य का प्रतीक है जो आदमी को बेहतर आदमी और दुनिया को बेहतर दुनिया बनाने के लिए जरूरी है। कहना न होगा कि केदारनाथ सिंह के यहां बेहतर दुनिया की उम्मीद के लिए काफी जगह है। 'उम्मीद', 'यकीन', 'विश्वास' जैसे शब्द बार-बार आकर इसे

और विस्तार देते हैं। ये 'बीज' शब्द कविता के कलात्मक गुण और अन्तर्वस्तु दोनों को आलोकित करते हैं। इन्हीं के भरोसे कवि का कहना है-- *"मुझे आदमी का सड़क पार करना/ हमेशा अच्छा लगता है / क्योंकि इस तरह/ एक उम्मीद सी होती है/ कि दुनिया जो इस तरफ है। शायद उससे बेहतर हो / सड़क के उस तरफ।"* (यहां से देखो, पृष्ठ 57)। उस पार जाने/ उस पार की दुनिया देखने की ललक हिन्दी के कई कवियों में रही है। वहां कामना है लेकिन संघर्ष का ताप नहीं है जबकि केदारनाथ सिंह की कविता 'उस आदमी को देखो' में सड़क के उस पार जाने वाले का *"एक पाँव हवा में उठा है/ और दूसरा उठने का इन्तजार कर रहा है।"* (वही)। बेहतर दुनिया के लिए उम्मीद की ताकत कवि को सामान्य जन के जीवन से मिलती है। उसी से वह संघर्ष की भूमिका भी तैयार करता है-- *"पूछ/ चाहे जितनी बार पूछना पड़े/ चाहे पूछने में जितनी तकलीफ हो / मगर पूछो / पूछो कि गाड़ी अभी कितनी लेट है।"* (यहां से देखो, पृष्ठ 46)। कवि यह जानता है कि व्यवस्था का दोषपूर्ण होना अथवा गलत निर्माण 'बेहतर दुनिया' के मार्ग में सबसे बड़ा अवरोधक है। इसीलिए वह व्यवस्था में दोषमुक्ति और निर्माण में कुछ गलत हो जाने की स्थिति में पुनः निर्माण हेतु कलाकारों / रचनाकारों का आह्वान करता है, उन्हें तन्द्रा से उठाने का प्रयास करता है-- *"उठो कि कहीं कुछ गलत हो गया है/ उठो कि इस दुनिया का सारा कपड़ा ! फिर से बुनना होगा।"* (वही, पृष्ठ 50) लेकिन अगर पुनर्निर्माण संभव न हो तो वह उसे बदल डालने में भी विश्वास रखता है। प्रारंभ कहाँ से हो, इसका संकेत इन पंक्तियों में है- *"दुनिया बदलने से पहले / मुझे बदल डालनी चाहिए अपनी चादर / जो कि मैली हो गई है।"* (वही, पृष्ठ 49), यह रास्ता आसान नहीं है। संघर्ष का रास्ता कभी सरल होता भी नहीं। बोझ उठाने पर कंधों को तकलीफ होती ही है फिर भी वह कलाकारों से आग्रह करता है- *"अगर कंधे दुख रहे हों / कोई बात नहीं / यकीन करो कंधों पर / कंधों के दुखने पर यकीन करो / यकीन करो, यकीन करने पर / यकीन न करने पर यकीन करो / यकीन करो / और खोज लाओ / कोई नई चट्टान।"* (वही, पृष्ठ 44)। दुनिया को हाथ की तरह गर्म और सुन्दर देखने की आकांक्षा का कवि श्रम-सौन्दर्य का महत्व जानता है।

भारत की कृषि संस्कृति का अविभाज्य अंग है- बैल। केदारनाथ सिंह ने उस पर कविता लिखकर किसान-जीवन का मार्मिक आख्यान प्रस्तुत किया है। जुए के नीचे झुककर अपनी गरदन रख देने पर भी बैल के शानदार सीगों का सीधा, खड़ा चमकना उसके सहज दर्प और जुझारूपन का प्रतीक है तो यह किसान के श्रम और स्वाभिमान का भी प्रतीक है। यह कविता ग्राम्य अनुभव के नृशंसीकरण के साथ-साथ आत्मान्वेषण की भी कविता है। 'मांझी का पुल' मानवीय भावनाओं का प्रतीक है। 'बढ़ई और चिड़िया' आरी और लकड़ी के संयोग से कोमल तथा मार्मिक भावनाओं की निष्पत्ति की कविता है। मेड़ पर पड़े टूटे हुए हल को अपनी चोंच से उठाने वाली चिड़िया का कार्य कवि के लिए 'जनहित का काम' है। 'कुदाल' तथा 'कुए' कविताओं में किसान और मजदूर के जीवन में घुसते चले आ रहे भूमण्डलीकरण और बाजारवाद के प्रभाव को लेकर अनेक गंभीर सवाल हैं जो लोक जीवन में फैली अपसंस्कृति के प्रसरण के विरुद्ध तीव्र हस्तक्षेप कहे जा सकते हैं। बैलगाड़ी और बाजार का धूल भरा रास्ता हो अथवा पेट और पीठ का संबंध, केदारनाथ सिंह हर चीज को उसकी गहराई तथा समग्रता में देखेते हैं। प्रश्नों के माध्यम से मानवीय दृष्टि को उभारकर संवेदना की ऐसी बुनावट करते हैं कि वह सबसे अलग झलकती है। उनका यही कौशल कविता और पाठक के बीच अनुपम संवाद स्थापित करता है।

जे.जे., 167, टाइप-6, जंगलीघाट,
पोर्ट ब्लेयर, अण्डमान- 744103
मो.- 9434286189
ई मेल-tripathivyasmani@gmail.com

आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी : सप्तसूत्रीय समीक्षा के सूत्रधार

डॉ. योगेन्द्र नाथ शर्मा 'अरुण'

महाप्राण पं. सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के शब्दों में "गोरा रंग, बड़ी-बड़ी आँखें, साधारण कद, स्वस्थ देह, स्वच्छ खादी के वस्त्र, स्वाभाविक प्रसन्नता, पास रहने वालों को खुश कर देने वाली शालीनता और संयत भाषा जो हृदय पर मधुर मुहर छोड़ती हुई प्रायः नहीं मिटती। यह छवि है हिन्दी समीक्षा जगत के अन्यतम समीक्षक आचार्य पं. नन्द दुलारे वाजपेयी की![1] हिन्दी-समीक्षा के आधार स्तभ आचार्य पं. रामचन्द्र शुक्ल एवं डॉ. श्याम सुन्दर दास के सानिध्य में रह कर जीवन के उच्चतर जीवन-मूल्यों और संस्कारों को अपनी समीक्षा यात्रा का पाथेय बनाने वाले, आचार्य पण्डित नन्द दुलारे वाजपेयी ने भारतीय समीक्षा-जगत को जो अनूठी देन दी है; वह है, हिन्दी में छायावादी काव्य धारा का सम्यक् मूल्यांकन करके उसे दृढ़ता-पूर्वक प्रतिष्ठित किया जाना।" इस सन्दर्भ में विद्वान समीक्षक डॉ. प्रेम शंकर का कथन उद्धृत करना निश्चय ही समीचीन रहेगा- "आचार्य वाजपेयी को प्रायः स्वच्छन्दतावादी समीक्षक कहा जाता है, या अधिक-से-अधिक उसमें क्लासिकी शब्द और जोड़ दिया जाता है। यद्यपि पश्चिम में रोमांसिज्म और क्लासिज्म शब्द एक-दूसरे से विरोध में प्रस्तुत किए जाते रहे हैं। हिन्दी स्वच्छंदतावाद का काव्य उन्हें इसलिए भी प्रिय है क्योंकि जहाँ अभिव्यक्ति का एक स्तर तो है ही, कला-शिल्प के कतिपय शिखर भी निर्मित हुए हैं।"[2]

यह तथ्य स्मरणीय है कि समीक्षक के रूप में अपनी स्थापनाओं और मान्यताओं को लेकर आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी न तो कभी झुके और न ही कभी कोई समझौता ही उन्होंने किया। यहाँ तक कि अपने पूज्य गुरुदेव आचार्य पं. रामचन्द्र शुक्ल के समय भी आचार्य वाजपेयी कई अवसरों पर दृढ़तापूर्वक डटे रहे। संभवत इसी कारण आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की भाँति समीक्षा को शास्त्रीय बनाने का प्रयास आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी ने किया, लेकिन यह सत्य अवश्य स्वीकार करना होगा कि जब आचार्य वाजपेयी काव्य की अन्तश चेतना की व्याख्या अथवा विश्लेषण करते हैं, तो शास्त्रीयता का सामावेश उनकी समीक्षा में हो जाता है। आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी जब खुली दृष्टि से छायावादी काव्य-चेतना का विश्लेषण एवं मूल्यांकन करते हैं, तो कोई समीक्षात्मक पूर्वाग्रह लेकर नहीं चलते। डॉ. राम विनोद सिंह इस सन्दर्भ में कहते हैं- "शुक्लजी ने जिस छायावाद के रचनात्मक अंशों पर

व्यंग्य किया, वाजपेयी जी उसकी सप्राणता, सजीवता एवं उपयोगिता का समर्थन करते हैं। हालांकि छायावाद के समर्थन में नई तर्क-प्रणाली और नया समीक्षा दृष्टिकोण नहीं बना पाते। वाजपेयी जी एक सफल व्यावहारिक समीक्षक हैं, जिसमें सिद्धान्त स्वतः निर्मित हो गया है। यही कारण है कि उनकी समीक्षात्मक दृष्टि में निरन्तर बदलाव मिलता है। उनके समीक्षा-सिद्धान्त को इसी आलोक में देखना न्यायसंगत होगा।"[3]

यहाँ हमें यह स्मरण रखना होगा कि आचार्य पंडित नन्द दुलारे वाजपेयी ने समीक्षक के रूप में सिद्धान्त के निर्माण में शास्त्रीय बनने का प्रयास कभी नहीं दिया; प्रत्युत् अपनी समीक्षा-दृष्टि का समवेत चित्र वे गढ़ते हैं और फिर उसी के माध्यम से रचना का विश्लेषण करते हैं। वस्तुतः आचार्य वाजपेयी का यह प्रयास उनकी व्यवहारवादी समीक्षा-दृष्टि की देन है, जिसके कारण वे हिन्दी-समीक्षा में सर्वथा अनूठे दिखाई देते हैं। इस सन्दर्भ में समीक्षक डॉ. रामाधार शर्मा कहते हैं- "अवश्य ही आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी के समीक्षा-सिद्धान्त प्रत्यक्ष जीवन और उपलब्ध साहित्य से गृहीत हुए हैं। किसी साहित्येतर शास्त्र, विज्ञान या अध्यात्म विद्या से नहीं।" सब से बड़ा सत्य यह है कि आचार्य वाजपेयी ने काव्य के 'आन्तरिक बोध' को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना है, जिसके परिप्रेक्ष्य में उन्होंने समीक्षा के 'सप्त सूत्र' स्वीकार किए हैं।[4]

निर्विवाद रूप से आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी की 'सप्त सूत्रीय' समीक्षा छायावादी काव्य धारा के स्वरूप एवं विश्लेषण से निकली है। यही कारण है कि आचार्य वाजपेयी की दृष्टि में काव्य का आन्तरिक बोध सर्वाधिक महत्वपूर्ण रहा है। वस्तुतः जब आचार्य वाजपेयी छायावादी काव्य की अन्तरंग चेतना से 'साधारणीकरण' को जोड़ने का प्रयास करते हैं, तब वे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की 'रस-धारणा' से बिलकुल अलग-थलग हो जाते हैं। इस सन्दर्भ में, सहज ही कहा जा सकता है कि आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी ने व्यावहारिक समीक्षा के सन्दर्भ में अपने सिद्धान्त का निर्माण किया है। मैं निःसंकोच कह सकता हूँ कि वाजपेयी जी वैसे समीक्षक हैं, जो किसी निर्धारित प्रतिमान के आधार पर रचना की समीक्षा करना उचित नहीं मानते, बल्कि रचना से ही समीक्षा की आधार-भूमि ग्रहण करते हैं। डॉ. राम विनोद सिंह ने तो स्पष्ट शब्दों में कह दिया है- "वाजपेयी जी के समीक्षा-सिद्धान्त की पृष्ठभूमि छायावादी काव्य-चेतना है। छावावाद ने शास्त्रीयता और इतिवृत्तात्मकता को काव्य का वर्जित प्रदेश करार दे दिया तथा आन्तरिक वृत्ति को काव्य के केन्द्र में प्रतिष्ठित किया था। यही कारण है कि वाजपेयी जी भी आन्तरिक वृत्ति को प्रतिमान मानते हैं और बाह्य विधानों को अनावश्यक घोषित करते हैं।"[5]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की समीक्षा-दृष्टि पर चोट करते हुए वाजपेयी जी कह देते हैं-- "साहित्य, काव्य, अथवा किसी भी कलाकृति की समीक्षा में जो बात हमें सदैव स्मरण रखनी चाहिए, किन्तु शुक्ल जी ने जिसे बराबर भुला दिया है, वह यह है कि हम किसी निश्चित दार्शनिक अथवा साहित्यिक सिद्धान्त को लेकर उसके आधार पर कला की परख नहीं कर सकते। सभी सिद्धान्त सीमित हैं, किन्तु कला के लिए कोई भी सीमा नहीं है, कोई बन्धन नहीं है, जिसके अन्तर्गत आप उसे बाँधने की चेष्टा करें।"[6] इस से स्पष्ट है कि समीक्षा के रूप में आचार्य वाजपेयी बंधी लीक पर नहीं चले, बल्कि रचना के अनुसार मानक बनाकर चले हैं।

समीक्षक के रूप में आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी काव्य में अनुभूति को प्रमुखता देते हैं और वैयक्तिक अनुभूति को भी सामाजिक अनुभूति का सहयोगी तत्त्व मानते हैं। उनकी दृष्टि में कवि या रचनाकार मूलतः सामाजिक प्राणी है और इसीलिए रचनाकार का संपूर्ण अनुभव सामाजिक जीवन में घटित होने वाली सम्पूर्ण घटनाओं का परिणाम होता है। आचार्य

वाजपेयी मानते हैं कि ऐसी स्थिति में नितान्त व्यक्तिगत अनुभूति भी सामाजिक अनुभव से प्रभावित रहती है। 'नया साहित्य नये प्रश्न' में वाजपेयी जी इस सन्दर्भ में स्पष्ट रूप से लिखते हैं-- "हम साहित्य से समाज का, सामाजिक जीवन का, सामाजिक विचार धाराओं का, वादों का सम्बन्ध मानते हैं, किन्तु अनुवर्ती रूप में। साहित्य का अपनी सत्ता के अन्तर्गत उसके निर्माण में इनका इतना ही स्थान है। ये उसके उपादान और हेतु हुआ करते हैं, नियामक और अधिकारी नहीं।"[7] समीक्षक के रूप में वाजपेयी जी वैयक्तिक अनुभूति पर सामाजिक प्रभाव को स्वीकार करते हैं और इसी के साथ वे 'वैयक्तिक अनुभूति' की स्वतंत्र सत्ता को भी मान्यता देते हैं। सत्य यही है कि आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी की यह समीक्षा-दृष्टि मूलतः 'छायावादी-चिन्तन' से प्रभावित है।

'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' ग्रंथ की 'विज्ञप्ति' में आचार्य वाजपेयी ने अपनी समीक्षा-दृष्टि के आधार रूप में सात सूत्रों की चर्चा की है, जिन्हें मैं उनकी समीक्षा का मूल मानता हूँ। इन सात समीक्षा-सूत्रों का संक्षिप्त विवेचन आचार्य वाजपेयी की समीक्षा-दृष्टि को जानने के लिए निश्चय ही आवश्यक है। आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी के इन सात समीक्षा-सूत्रों का विवेचन करके, हम उनकी समीक्षा-दृष्टि का सम्यक् मूल्यांकन कर सकते हैं। ये सात सूत्र आचार्य वाजपेयी की समीक्षा-यात्रा के ऐसे महत्त्वपूर्ण चिन्तन-बिन्दु हैं, जिनके माध्यम से आचार्य वाजपेयी ने विविध समीक्षा-पद्धतियों के विश्लेषण के बाद अपनी एक संश्लिष्ट समीक्षा-दृष्टि निर्मित की है। उनकी समीक्षा-दृष्टि में यत्र-तत्र जो परस्पर-विरोधी सूत्र आए हैं, वे वस्तुतः वाजपेयी जी की 'विकासोन्मुखी' समीक्षा-दृष्टि का दिग्दर्शन ही कराते हैं। तथ्य यह है कि एक में बदलाव आते ही, समीक्षा-दृष्टि में भी तदनुकूल परिवर्तन जा जाता है। मुझे तो लगता है कि समीक्षा के रूप में आचार्य वाजपेयी निरन्तर जागरूक रहे हैं, इसीलिए रचना के भाव-बोध के साथ ही उनकी समीक्षा-दृष्टि में यथानुकूल परिवर्तन और निखार आया। आइए, सात-सूत्रों के सन्दर्भ में आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी की समीक्षा-दृष्टि का संक्षिप्त विश्लेषण कर लें।

1. रचना में कवि की अन्तर्वृत्तियों का अध्ययन-- वास्तव में आचार्य वाजपेयी की समीक्षा-दृष्टि का यह प्रथम सूत्र 'छायावादी भाव-बोध' का ही परिणाम है। डॉ. बच्चन सिंह स्वीकार करते हैं-- "वाजपेयी जी की आलोचनात्मक दृष्टि का निर्माण छायावादी काव्यसृष्टि द्वारा हुआ। यदि यह सच है कि प्रत्येक युग अपना आलोचक स्वयं पैदा करता है तो छायावादी युग ने वाजपेयी जी को उत्पन्न किया। छायावादी साहित्यिक कृतियों को समझने-समझाने में उनका प्रयास अद्वितीय और असमानान्तर है।"[8]

छायावाद में बाह्य परिस्थितियों की अपेक्षा आन्तरिक मनोवृत्तियों एवं अनुभूतियों को महत्त्व मिला है, इसी कारण छायावादी काव्य की समीक्षा के लिए आचार्य वाजपेयी 'कवि की अन्तर्वृत्तियों' का अध्ययन आवश्यक मानते हैं। उनकी दृष्टि में, लेखकीय अनुभूति वह प्रधान तत्व है, जिसके आधार पर रचना की समीक्षा समीचीन होती है। किसी रचना में बाह्य विधान या सामाजिक परिवेश के प्रभाव का विवेचन आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी अनावश्यक मानते हैं। यही कारण है कि आचार्य वाजपेयी 'छायावादी काव्य-चेतना के व्याख्याता' कहलाए।

2. रचना से कवि की मौलिकता, शक्तिमत्ता, सृजन की लघुता-विशालताः- आ. वाजपेयी की समीक्षा के दूसरे सूत्र में वस्तुतः कवि की मौलिकता और शक्तिशीलता के विवेचन को महत्व दिया गया है। प्रथम सूत्र में जहाँ काव्य की आन्तरिक वृत्ति को महत्ता दी गई है, वहीं दूसरे सूत्र में वाजपेयी जी अनुभूति के साथ-ही-साथ, रचना-प्रक्रिया की पूर्णता को सम्मिलित करते हैं। आचार्य वाजपेयी के

अनुसार, कवि की मौलिकता उसकी अनुभूति-क्षमता से ज्ञात होती है और उसकी शक्तिमत्ता का पता काव्य की अभिव्यक्ति के स्वरूप से होता हैं। इस प्रकार हम कह सकते है कि आचार्य वाजपेयी की समीक्षा-दृष्टि का यह दूसरा सूत्र वास्तव में किसी रचना की समीक्षा में पहले सूत्र से अधिक व्यापक और स्वाभाविक है। वाजपेयी जी के अनुसार, काव्य-रचना में अनुभूति के साथ ही अभिव्यक्ति का स्वरूप भी महत्त्वपूर्ण होता है। यद्यपि यह भी सत्य है कि संप्रेषण कवि की अनुभूति का होता है, लेकिन भाषा-शैली का प्रश्न भी समीक्षक के लिए महत्वपूर्ण हो जाता है, चूंकि भाषा के सम्यक् नियोजन से ही तो संप्रेषण पूर्ण होता है।

3. रीतियों, शैलियों और रचना के बाह्य अंगों का अध्ययनः- वाजपेयीजी की समीक्षा-दृष्टि के इस तीसरे महत्त्वपूर्ण सूत्र में काव्य-रचना के बाह्य स्वरूप पर विचार किया गया है। स्पष्ट है कि आचार्य वाजपेयी ने इस सूत्र में काव्य के आन्तरिक पक्ष के साथ बाह्य-पक्ष की उपयोगिता स्वीकार की है। कभी-कभी ऐसा भी लगता है कि यह तीसरा सूत्र उक्त दूसरे सूत्र का रूपान्तरण मात्र ही है, क्योंकि दूसरे सूत्र में भी काव्य-रचना के बाह्य-पक्ष को लिया गया है, लेकिन गहराई से देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि दूसरे सूत्र में रचना की मौलिकता और शक्तिमत्ता के माध्यम से संप्रेषण क्षमता का आकलन देखा जाना है, तो तीसरे सूत्र में अभिव्यक्ति के माध्यमों, यथा भाषा-शैली आदि को वाजपेयी जी लेते हैं।

यह सच है कि रचना की समीक्षा में आन्तरिकता और बाह्य चेतना को पृथक करके देखना विवाद का संकट पैदा करता है, क्योंकि रचना प्रकिया में दोनों का महत्व है और संप्रेषण में भी दोनों जरूरी हैं; फिर भी आचार्य वाजपेयी इन्हें पृथक कर के प्रभानी बना देते हैं। तथ्य यह है कि वाजपेयी जी 'अनुभूति' और रचना-प्रक्रिया को सहगामी मानते हैं। यह वस्तुतः उनकी समीक्षा-दृष्टि की व्यापकता का परिचायक है, चूंकि वे अनुभूति को शैली-विधान से अलग नहीं करते।

4. समय, और समाज तथा उनकी प्रेरणाओं का अध्ययनः- आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी की समीक्षा-दृष्टि का यह चौथा सूत्र निश्चय ही बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसमें काव्य के सामाजिक परिवेश अथवा युगबोध के प्रभाव को स्वीकार किया गया है। यह स्मरणीय तथ्य है कि हिन्दी में छायावाद की ऐकान्तिकता के विरोध में जिस काव्य धारा का जन्म हुआ था, उसमें सामाजिक परिवेश के यथार्थ को महत्त्वपूर्ण माना गया और इस काव्यधारा को 'प्रगतिवाद' कहा गया! हिन्दी काव्य धारा के विकास के इस स्वरूप को ध्यान में रखकर ही आचार्य वाजपेयी ने अपने समीक्षा-सूत्रों में सामाजिक परिवेश के यथार्थ को समाहित किया है। इस सन्दर्भ में डॉ. रामाधार शर्मा का कथन द्रष्टव्य है--"यहीं वाजपेयी जी अपने विचारों को क्रमशः राष्ट्रीय और सांस्कृतिक परिणति देने में समर्थ हुए हैं। साहित्य यद्यपि शाश्वत वस्तु है, फिर भी उसका निर्माण समाज-विशेष के अनुरूप और युग-विशेष की स्थिति में ही सम्भव होता है। वह अपने युग और समाज से निरन्तर प्रेरित-प्रभावित होता रहता है।"[9] सत्य यही है कि साहित्य वैयक्तिक अनुभूति का बोध ही नहीं होता, प्रत्युत् साहित्य में 'युग बोध' की विविध मानसिकताओं की भी अभिव्यक्ति साहित्यकार करता है, अतः आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी साहित्य और युगबोध में बड़ा ही सूक्ष्म, किन्तु स्पष्ट संबंध मानते हैं। मानस को 'युगबोध' निरंतर प्रभावित एवं प्रेरित करता है, इसीलिए हर युग के साहित्य-चिन्तन में परिवर्तन दिखाई पड़ता है। आचार्य वाजपेयी वस्तुतः साहित्य के विश्लेषण में समय और समाज के बदलावों के साथ-साथ, उन बदलावों से प्राप्त प्रेरणाओं तथा प्रभावों को भी समीक्षा का आधार मानते हैं। साहित्य की इस बदलती हुई मानसिकता को आचार्य वाजपेयी पहचानते हैं और तदनुरूप

अपने विचारों में परिवर्तन करते हैं। व्यक्तिनिष्ठ अनुभूति और सामाजिक अनुभूति को सहगामी मान कर भी वे मार्क्सवादी-चिन्तन का विरोध करते हैं, जो साहित्य को किसी दल विशेष की नीतियों का विश्लेषण मानता है। स्मरणीय है कि प्रगतिवादी साहित्य की विचार-धारा को स्वीकार कर के भी आचार्य वाजपेयी उसकी एकान्तिक प्रतिबद्धता को स्वीकार नहीं करते।

5. कवि की व्यक्तिगत जीवनी और रचना पर उसके प्रभाव का अध्ययनः- आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी की समीक्षा-दृष्टि का पाँचवा महत्त्वपूर्ण सूत्र है रचनाकार के वैयक्तिक जीवन का रचना पर पड़ने वाले प्रभाव का विश्लेषण एवं मूल्यांकन किया जाना। वस्तुतः वाजपेयी जी 'कवि-मानस' का विश्लेषण रचना की समीक्षा में महत्वपूर्ण मानते हैं क्योंकि वे मानते हैं कि रचना के रूप पर रचनाकार के 'मानस' का प्रभाव, किसी-न-किसी रूप में पड़ता ही है। आचार्य वाजपेयी के इस समीक्षा-सूत्र का सम्बन्ध मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा-पद्धित से है। साहित्य पर मार्क्स ही तरह फ्रायड का प्रभाव भी पड़ा है, इसलिए समीक्षा में भी मनोविश्लेषण-पद्धति को स्वीकार किया जाना समीचीन है। वाजपेयी जी काव्य-रचना पर रचनाकार के वैयक्तिक अनुभवों के प्रभाव की चर्चा आवश्यक इसीलिए मानते हैं कि लेखक द्वारा भोगे गए यथार्थ का प्रभाव रचना पर अपरिहार्य रूप से होता ही है। यहाँ यह स्पष्ट करना बहुत जरूरी है कि लेखकीय भोग को बड़े ही व्यापक अर्थ में वाजपेयी जी लेते हैं और इसीलिए वे मात्र 'लेखक का भोगा हुआ कल' नहीं लेते, बल्कि रचनाकार के इस भोगे हुए यथार्थ की प्रामाणिकता का होना भी आवश्यक मानते हैं। इस सन्दर्भ में डॉ. राम विनोद सिंह का विश्लेषण यहाँ देना समीचीन लगता है-- "यह ठीक है कि लेखक के निजी जीवन का प्रभाव उसकी रचना पर पड़ता है। लेकिन रचनाकार अपने स्वत्व को इतना व्यापक बना देता है कि वह व्यष्टि का नहीं, बल्कि समष्टि का सत्य बन जाता है। अर्थात् उसकी निजी विचार धारा का समाजीकरण हो जाता है। वाजपेयी जी ने इस मानस-विश्लेषण को व्यापकता के साथ स्वीकार किया है।"[10]

6. कवि के दार्शनिक, सामाजिक, राजनीतिक विचारों का अध्ययनः- आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी की समीक्षा-दृष्टि का यह सूत्र प्रत्यक्ष रूप में तो पाँचवें सूत्र से सम्बद्ध ही दिखाई देता है, लेकिन रचना की सम्यक् परख और समीक्षा की दृष्टि से देखा जाए तो इस सूत्र की महत्ता स्वंय ही सिद्ध हो जाती है। वाजपेयी जी का मानना था कि रचना पर रचनाकार के सामाजिक, राजनीतिक एवं दार्शनिक चिन्तन का गहरा प्रभाव अवश्य पड़ता है। यही कारण है कि आचार्य वाजपेयी ने समीक्षा-मानकों में जहाँ कवि के परिवेशजन्य प्रभावों को मूल्यवान माना हैं, वहीं रचनाकार के दार्शनिक, राजनीतिक एवं सामाजिक विचारों के अध्ययन को अपनी समीक्षा-दृष्टि के आधार बनाया है। आचार्य वाजपेयी का स्पष्ट मानना था कि जब किसी रचनाकार की रचना के चिन्तन में स्वयं रचनाकार की विचार-धारा सहज एवं नैसर्गिक रूप से मिल जाती है, तब वह निश्चय ही रचनात्मक हो जाती है। वाजपेयी जी के अनुसार, जब रचनाकार की विचार-धारा रचना की 'मूल चेतना' से नहीं मिल पाती, तब वे रचना मात्र प्रचारवादी रचना बन जाती है। इसी सन्दर्भ में देखें, तो मार्क्सवादी साहित्य में वामपंथी विचारधारा का प्रभाव मात्र प्रचार का स्वरूप ग्रहण कर लेता है। आचार्य वाजपेयी की दृष्टि में, जिस प्रकार मानसिक और कलात्मक मूल्यांकन रचना की सम्यक् समीक्षा के लिए उपयोगी होता है, उसी प्रकार रचनाकार की सामाजिक, राजनीतिक और दार्शनिक विचारधारा का समुचित मूल्यांकन और आकलन भी आवश्यक और लाभप्रद सिद्ध होता है।

7. कवि के जीवन संबंधी सामंजस्य और सन्देश का अध्ययनः- आचार्य वाजपेयी की

समीक्षा-दृष्टि का यह अन्तिम सातवाँ सूत्र भी प्रत्यक्ष पाँचवें और छठे सूत्रों का विस्तार सा ही लगता है, लेकिन गहराई से विचार करने पर हम पाएँगे कि इस सूत्र में 'जीवन संबंधी सामंजस्य' और 'कवि सन्देश' निश्यय ही समीक्षा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण मानक सिद्ध होते हैं, जिन्हें छोड़ना उचित नहीं होगा।

इस सन्दर्भ में डॉ. रामाधार शर्मा का कथन महत्वपूर्ण है-- "प्रत्येक लेखक की अपनी विशेष जीवन दृष्टि, काव्य-सन्देश हुआ करता है। वह अपने विचारों की व्यक्तिगत या साम्प्रदायिक साहित्य में अभिव्यक्ति करता है।"[11]

वस्तुतः आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी साहित्य और जीवन में घनिष्ठ संबंध मानते हैं। उनकी दृष्टि में साहित्य पूर्णत जीवन-सापेक्ष है, अतः जीवन से बाहर साहित्य की कोई सत्ता नहीं है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की ही तरह आचार्य वाजपेयी ने भी कलावादियों का विरोध ही किया है। 'आधुनिक साहित्य' में आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी अपना मन्तव्य स्पष्ट कर देते हैं-- "साहित्य की अपनी स्वतंत्र सत्ता है, यद्यपि वह सत्ता जीवन सापेक्ष है। जीवन-निरपेक्ष कला के लिए कला भ्रान्ति है, जीवन-सापेक्ष कला के लिए कला सिद्धान्त है।"[12]

आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी की समीक्षा-दृष्टि के ये सात सूत्र महत्वपूर्ण हैं, हालाँकि इन सूत्रों की सीमाएं भी स्पष्ट हैं, फिर भी इन सूत्रों से वाजपेयी जी की विकासोन्मुखी समीक्षा-दृष्टि का परिचय हमें मिल जाता है। स्पष्ट रूप से वाजपेयी जी मूलतः स्वच्छन्दतावादी समीक्षक हैं, लेकिन वे छायावादी भाव-सूत्रों से ही बंधकर नहीं रहे, बल्कि परिवर्तित होते हुए साहित्य को सदैव खुली नजर से देखने वाले समीक्षक के रूप में अपनी समीक्षा-दृष्टि को माँजते रहे हैं। आचार्य वाजपेयी पूर्णतः पूर्वाग्रह से मुक्त एवं खुले दिमाग से साहित्य का परीक्षण करने वाले नए भाव-बोध के प्रशंसक और पुराने मूल्यों के विश्लेषक समीक्षक रहे हैं, जिनका शुक्लोत्तर हिन्दी- समीक्षा में निश्चय ही महत्त्वपूर्ण एवं शीर्ष स्थान है।

संदर्भ

1. चाबुक (निबंध संग्रह), सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', पृष्ठ-36। **2.** नन्द दुलारे वाजपेयी : डॉ. प्रेम शंकर, पृष्ठ-64। **3.** हिन्दी-समीक्षा : सीमायें और सभावनायें, डॉ. राम विनोद सिंह, पृष्ठ-44। **4.** आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयीः व्यक्ति और साहित्य, डॉ. रामाधार शर्मा, पृष्ठ-255। **5.** हिन्दी-समीक्षा : सीमायें और संभावनायें, डॉ. राम विनोद सिंह, पृष्ठ-46। **6.** हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी, आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी पृष्ठ-79। **7.** नया साहित्य : नये प्रश्न, आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी, पृष्ठ-18। **8.** आलोचक और आलोचना, डॉ. बच्चन सिंह, पृष्ठ-176। **9.** आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी : व्यक्ति और साहित्य, डॉ. रामाधार शर्मा, पृष्ठ-266। **10.** हिन्दी-समीक्षा : सीमायें और संभावनायें, डॉ. राम विनोद सिंह, पृष्ठ-50। **11.** हिन्दी की सैद्धान्तिक समीक्षा, डॉ. रामाधार शर्मा, पृष्ठ-184। **12.** आधुनिक साहित्य, आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी, पृष्ठ-407।

(पूर्व प्राचार्य)
74/3, न्यू नेहरू नगर,
रुड़की-247667

चैते गुड़, बैसाखे तेल,
जैठे पथ, आषाढ़े तेल,
सांवण कांदो, भांदो दही,
दूध आसोजा, काती मही।

मंगासिर जीरो, पौष धणा,
माधे मिश्री फागण चणा,
आसूं रहसी जो भी दूर,
काया निरोगी उमर भरपूर।

भारतीय मेघविज्ञान का प्रामाणिक काव्य मेघदूत

डॉ. भावना आचार्य

संस्कृत गीतिकाव्य-परम्परा में महाकवि कालिदास-रचित 'मेघदूत' एक उत्कृष्ट विरह-काव्य के रूप में विख्यात है। एक वर्ष के प्रिया-वियोग हेतु कुबेर द्वारा शापग्रस्त यक्ष आषाढ़ मास के प्रथम दिन आकाश में मेघ को देखकर व्याकुल हो उठता है। रामगिरि के शिखर से लिपटा वह काला वर्षा-मेघ उसे 'वप्रक्रीडा में लीन हाथी' के समान लगता है और वह कामार्त होकर दूर यक्ष नगरी अलका में बैठी अपनी वियोगिनी यक्षिणी के पास मेघ को ही दूत बनाकर अपना विरह-सन्देश भेजता है। यह मेघदूत काव्य का कवि-प्रतिभा-कल्पित कथ्य है जिसे विरह-व्यथा के सरस चित्रण से मार्मिक बनाकर कवि ने एक अमर कृति की रचना की है।

'मेघदूत' काव्य है किन्तु इसे भारतीय मेघविज्ञान का प्रामाणिक दस्तावेज कहें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। 'मेघदूत' की कहानी मानव-सभ्यता के आदिक्षेत्र रामगिरि के पर्वत-शिखरों से शुरू होती है जो हिमालय से भी प्राचीन है। कवि ने 'पूर्व-मेघ' में अलका पहुँचने का मार्ग बताने के बाद उत्तर मेघ में संदेश-कथन किया है। यह मार्ग काल्पनिक नहीं, भारतीय मानसून के मेघ का वैज्ञानिक आकाश मार्ग है जो प्रतिवर्ष दक्षिण से उत्तर की ओर सहस्राब्दियों से बना हुआ है और इस कृषि-प्रधान देश के कृषिजीवियों के लिए जीवनदायक है। नागपुर से उत्तर की ओर स्थित रामगिरि (रामटेक) से यात्रारंभ करके मेघ को मालक्षेत्र (माल्दा का पठार), आम्रकूट (छिन्दवाडा), पूर्वी मालवा (दशार्ण) और विदिशा तक उत्तराभिमुख होकर चलना है। वहाँ से पश्चिम की ओर मुड़कर निर्विन्ध्या और सिन्धु (काली सिंध) पार करके उज्जयिनी, उसके आगे उत्तर-पश्चिम दिशा में देवगिरि, चर्मण्वती (चम्बल) तथा दशपुर (मन्दसौर) की ओर बढ़ना है। दशपुर से उत्तरान्मुख होकर ब्रह्मावर्त, कुरुक्षेत्र, सरस्वती नदी के पार पहुँचना है। यहाँ से उत्तरपूर्व दिशा में मुड़ने पर कनखल और गंगातट मिलेगा। उसके आगे क्रौंचरन्ध्र (नीतिमाणा दर्रा) पार करने पर कैलास में बसी अलकापुरी मिलेगी।

'मेघदूत' के सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि कालिदास ने 'पूर्व मेघ' का प्रारंभ-बिन्दु विध्याचल के पास स्थित रामगिरि (आधुनिक 'रामटेक') को चुना है। नागपुर के उत्तर की ओर 24 मील दूरी पर स्थित 'रामटेक' भारतीय प्रायद्वीप की उन सीमाओं के अन्तर्गत आता है जहाँ से वर्षाकालीन मानसूनों की प्रारंभिक दिशा निर्धारित होती है। अरब सागरीय मानसून का पहला वेग भारत के पश्चिमी घाट के प्रदेशों में बरस कर ही प्रायः समाप्त हो जाता है किन्तु इन्हीं हवाओं का दूसरा वेग सतपुड़ा और विंध्य पर्वतमाला की मध्यवर्ती घाटी से होता हुआ

मध्यप्रदेश को वर्षासिक्त करता है। कालिदास का 'पुष्करावर्तक' मेघ यही है। अरब सागरीय मानसून की काठियावाड़ कच्छ से प्रवेश करने वाली उत्तरी शाखा राजपूताना कुरुक्षेत्र होती हुई इसी 'मेघ मार्ग' का अनुसरण करने के कारण 'उत्तर मेघ' के रूप में हिमालय और अलका की ओर पहुँचता है।

बंगाल की खाड़ी वाली दूसरी मानसून लहर से भी कालिदास का मेघमार्ग प्रभावित हुआ है। यह लहर सर्वप्रथम अराकान पर्वतों से टकराती हुई ब्रह्मदेश में मूसलाधार बरसती है। इसका शेष भाग बंगाल, असम होता हुआ चेरापूंजी में सर्वाधिक वृष्टि देता है। आगे चलकर यह लहर दो हिस्सों में बंट जाती है। एक हिस्सा ब्रह्मपुत्र घाटी के पूर्व की ओर चला जाता है और दूसरा भाग पश्चिम की ओर गंगा की उपत्यकाओं में बरस कर क्षीण होता हुआ पाकिस्तान के पेशावर तक चला जाता है। मानसून की इसी लहर से उत्तर-पूर्वी पर्वतमालाओं के साथ-साथ, दिङ्नागों के स्थूल हस्तावलेपों (हस्तिशुण्डों) का भारी जमाव भी हावी रहता है जिनसे बचते हुए आगे बढ़ने और 'वक्रःपन्था' पता होने पर भी उज्जयिनी की ओर मुड़ जाने का उपाय मेघ को कवि ने बताया है। मेघदूत के एक पद्य में कवि ने लिखा है कि मार्ग में अवरोध बनकर आने वाले दिङ्नागों के स्थूल शुण्डों के अवलेपों (आघातों) से बचते हुए आगे बढ़ना-- ***दिङ्नागानां पथि परिहरन् स्थूलहस्तावलेपान् (पूर्व मेघ-14)।*** ये दिङ्नाग कौन हैं? मल्लिनाथ जैसे टीकाकार ऋतु विज्ञान से नितान्त अनभिज्ञ होने के कारण यहाँ दिङ्नाग नामक बौद्धाचार्य अर्थ कर बैठते हैं जो ऐतिहासिक एवं अन्य कारणों से बिल्कुल अयुक्तिसंगत है। भारतीय ऋतुविज्ञान में 'हस्तिकर' (हाथी सूंड) की जो अवधारणा रही है कालिदास के 'दिङ्नाग' का उसी से सम्बन्ध है। आधुनिक मौसम-विज्ञानियों ने 'जल स्तम्भ' के रूप में इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि वायु वेग अथवा अन्य भौगोलिक कारणों से समुद्र, नदी, झील, जलाशय आदि का जलीय वाष्प-समूह घनीभूत होकर जब स्तम्भ के आकार में ऊपर की ओर उठता है तो यह जल-स्तम्भन की वृष्टि-वैज्ञानिक प्रक्रिया कहलाती है। हाथी जैसे सूंड से जल खींचता है उसी प्रकार बादल भी सूर्य-किरणों की सहायता से जल-संस्थानों का वाष्प ग्रहण करते हैं। इसीलिए इन्हें 'हस्तिकर' या 'हस्तीशुण्ड' कहा जाता है। ब्रह्मवैवर्त पुराण में 'हस्तिकर' की प्रक्रिया को समझाया गया है। ***हस्ती समुद्रादाय करेण जलमीप्सितम् दद्याद् घनाय तद् दद्याद् वातेन प्रेरितो घनः।***

महाकवि कालिदास इस हस्तिशुण्ड की प्रक्रिया से पूर्णतया परिचित थे। 'मेघदूत' में गंभीरा नदी (श्लोक पद) तथा कनखल के पास गंगा से जलग्रहण करते समय कवि ने 'हस्तिशुण्ड' विधि का ही वर्णन किया है। मौसम वैज्ञानिकों का मानना है कि आषाढ़-श्रावण के महीनों में उत्तर-पूर्वी पर्वतमालाओं में हस्तिशुण्डों का एक शक्तिशाली संघात भारत की मानसूनी हवाओं को प्रभावित किये रहता है। 'दिङ्नागों' द्वारा कवि ने मेघ को इन्हीं जल-संघातों (हस्तिशुण्डों) के भँवर से बचते हुए उज्जयिनी की ओर मुड़ने का निर्देश दिया है अन्यथा इन शक्तिशाली मानसूनी हवाओं के दबाव को लांघकर आगे बढ़ना और सीधा अलका पहुँचने का मेघमार्ग तो जलवायवीय परिस्थितियों के विपरीत कल्पना सिद्ध होता। अतः विदिशा से आगे 'वक्रःपन्था' होते हुए भी मेघ को उज्जयिनी की ओर मुड़कर जाने का निर्देश कवि का उज्जयिनी-प्रेम या महाकाल-दर्शन का मोह नहीं अपितु मौसम विज्ञान की ठोस जानकारी होने का परिचायक है।

भारतीय ऋतु-वैज्ञानिकों के अनुसार मेघ की चार मुख्य जातियाँ मानी गई हैं- पुष्कर, आवर्तक, संवर्तक और द्रोण। आधुनिक मेघ-विज्ञान के विशेषज्ञ इन्हीं को क्रमशः Cirrus, Stratus, Cumulus, Nimbus कहते हैं। 'संवत्सर फल' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि पुष्कर (Cirrus) तथा आवर्तक

(Stratus) सीमित और मंदवृष्टि करते हैं जो धनधान्यवर्धक होते हैं, संवर्तक (Cumulus) मेघ धारासार वृष्टि तथा द्रोण (Nimbus) मूसलाधार वर्षा करते हैं-- ***आवर्ते छिन्नवृष्टिश्च संवर्ते जलपूरिता। पुष्करे मन्दवृष्टिः स्याद् द्रोणो वर्षति सर्वदा।।*** कालिदास का संदेशवाहक मेघ पुष्कर और आवर्तक मेघों के 'भुवनविदित वंश' में उत्पन्न हुआ है, वह देवराज इन्द्र का कामरूप 'प्रकृति-पुरुष' (जनसम्पर्काधिकारी) है। इसलिए वह केवल धूम, अग्नि, जल और वायु का जड़ संघात मात्र नहीं अपितु कुलीन, गुणी, संतप्तजनों का जीवनदायक, चेतन दूत की सभी विशेषताओं से सम्पन्न 'जीमूत' है। कालिदास की प्रकृति-वैज्ञानिक मान्यता पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र तथा यजमान (मनुष्य) इन आठ तत्त्वों के रूप में अष्टमूर्ति शिव का साक्षात दर्शन कराती है, इसी प्रकार कालिदास 'चतुर्मूर्ति' मेघ को भी एक चेतन तत्त्व के रूप में जानते (जानामि त्वाम्) और चित्रित करते हैं। वस्तुतः वैदिक काल से ही भारत के पदार्थशास्त्री वैज्ञानिक मेघवर्षण की प्रक्रिया को भी स्पष्ट करते आये हैं। 'शतपथ ब्राह्मण' में वर्णन है कि अग्नि से धूम,धूम से बादल और बादल से वृष्टि होती है: ***अग्नेर्वै धूमो जायते, धूमादभ्रमभ्राद् वृष्टिः।*** *(5/3/5/17)*। कालिदास ने 'मेघदूत' में रामगिरि से अलका तक मंद-मंद वर्षा करते हुए दीर्घ यात्रा करने में सक्षम 'पुष्कर' तथा 'आवर्तक' मेघों को क्यों चुना? इसका प्रधान कारण यह है कि ये मेघ यज्ञधूम से उत्पन्न होने के कारण पवित्र और स्वभाव से परोपकारी होते हैं **'यज्ञजास्तु घना घोराः पुष्करावर्तकादयः।'** (शब्दार्णव)।

कालिदास ने मेघदूत को 'पूर्वमेघ' और 'उत्तरमेघ'-- इन दो भागों में विभाजित किया है। इनका अर्थ पहला और पिछला भाग प्रतीत होता है जैसे पूर्वपीठिका और उत्तरपीठिका में, किन्तु वस्तुतः 'पूर्व' और 'उत्तर' शब्द दिशावाची हैं और इनका मानसून- वैज्ञानिक रहस्य यह है कि यह मेघ अपनी यात्रा का आरंभ तो दक्षिणी प्रायद्वीप से पूर्वाभिमुखी होकर करता है किन्तु गन्तव्य स्थान अलका तक पहुँचने के लिए उसे उत्तराभिमुखी होना पड़ता है। आधुनिक मौसम वैज्ञानिकों द्वारा वर्षाकालीन मानसून मार्गों का जैसा विश्लेषण किया जाता है, उसके अनुसार जून से सितम्बर तक चलने वाली मौसमी हवाएँ 'दक्षिण-पश्चिमी' मानसून मानी जाती हैं। भारतीय प्रायद्वीप इस मानसून को दो भागो में विभक्त करता है-- अरब सागरीय मानसून तथा बगाल की खाड़ी वाला मानसून (संदर्भः डॉ मोहन चंद का लेख 19 अगस्त 1990)। किन्तु लगता है कि कालिदास ने 'मेघदूत' में तीसरे मध्यवर्ती मानसून मार्ग की खोज कर ली थी जिसकी मानसूनी लहर दक्षिणी प्रायद्वीप से चलती थी और मेघदूत में वर्णित मेघमार्ग से होकर नीतिमाण दर्रे में से कैलास मानसरोवर की ओर जाती थी। इस तीसरे मार्ग की मौसम-वैज्ञानिक पुष्टि होना अभी शेष है।

भारतीय ऋतु विज्ञान की जो एक समृद्ध परम्परा कालिदास के समय में संरक्षित थी, मेघदूत का वृष्टि-विज्ञान उसी के प्रायोगिक स्वरूप को उद्घाटित करता है जो पूर्णत वैज्ञानिक है। महाकवि ने अपनी मनोरम काव्यशैली से उसे मंडित करके भारतीय भूगोल के वर्षाकालीन सस्य श्यामल सौन्दर्य का मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किया है जो विश्व साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है। भारत जैसे कृषि प्रधान देश के लोकगीतों में वर्षाकालीन विरह-भावना की जो पीड़ा समाई है उसे कालिदास ने मेघदूत में पुंजीभूत कर दिया है। साथ ही अपनी मधुर-कोमल गीति-शैली में वैज्ञानिक यथार्थ को लिपिबद्ध करके मेघदूत को भारतीय ऋतु-विज्ञान का एक प्रामाणिक दस्तावेज बना दिया है।

"शान्ताकारम्", 16-17 शिव कॉलोनी,
नोखा रोड़, हिरण मगरी से. 4,
उदयपुर- 313002 (राज.)

●

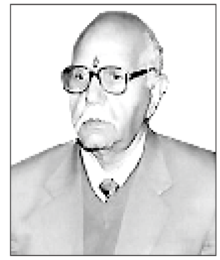

रहीम का संस्कृत काव्य

डॉ. सत्यव्रत वर्मा

साहित्य जगत में रहीम नाम से ख्यात अब्दुर्रहीम खानखाना भारत के मध्यकालीन साहित्य और इतिहास का कारुणिक पात्र है। मानव-जीवन में जिस उत्थान-पतन, मान-अपमान, जय-पराजय, हर्ष-विषाद की कल्पना की जा सकती है, रहीम के वैविध्यपूर्ण जीवन में वे सब साकार थे। वह था बहुभाषाविद्, महान् कवि, चतुर रणनीतिकार, कुशल योद्धा, वैभवपूर्ण नवाब, सम्राट अकबर का परम विश्वासपात्र, जहाँगीर का गुरु, किन्तु अन्तःपुर और राजदरबार के कुटिल षड्यन्त्रों का शिकार, शिष्य (जहाँगीर) द्वारा अपमानित-नमकहराम, भेड़िया जैसे लांछनों से कलंकित, दुर्व्यसनी पुत्रों की असामयिक मौतों की वेदना की ज्वाला में दहने वाला अभागा पिता और पुनः सम्मान पाकर 'बूढ़ा बेशर्म' कहलाने वाला जिसके जीवन में ऐसा घालमेल था जिसे कोई भी ग्रीक ट्रेजेडी अपना नायक बनाकर गौरवान्वित हो सकती थी। कुछ भी हो, रहीम स्फटिक-से निर्मल हृदय और सुवर्ण-सरीखे दीप्त मस्तिष्क से भूषित भारतीय साहित्य का ऐसा विलक्षण व्यक्तित्व था, जो 'रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव' की भांति अपनी उपमा आप ही था। राजाश्रय, युद्धकौशल और प्रखर मेधा से उसे असीम वैभव एवं प्रतिष्ठा मिली थी, किन्तु यह 'नाचीज़' लेखनी ही थी जिसकी नोक से निस्सृत परम पावनी ज्ञानगंगा ने उसे अजर-अमर बना दिया है।

संस्कृत के गौरवशाली इतिहास की सबसे अधिक आश्चर्यजनक किन्तु आनन्दप्रद बात यह है कि मध्य युग में इसके सर्वातिशायी गौरव, माधुर्य तथा ऋद्धि से प्रभावित एवम् आकर्षित होकर सुधी मुसलमान भी संस्कृत के अध्ययन में प्रवृत्त हुए और उनमें से कुछ ने उसमें प्रशंसनीय दक्षता प्राप्त की तथा अपनी मौलिक अथवा अनूदित कृतियों के द्वारा उसके साहित्य को समृद्ध बनाया। ऐसे कवियों की संख्या भले ही कम हो परंतु मुस्लिम विद्वानों, कवियों द्वारा देववाणी में रचना करना स्वयं में एक रोमांचक अनुभव है। इस दृष्टि से रहीम एक विशिष्ट व्यक्तित्व हैं जिसकी संस्कृत की रचनाओं का विशिष्ट महत्व है। किन्तु इसे विडम्बना ही कहा जायेगा कि उसके हिन्दी काव्य, विशेषकर उपदेशात्मक तथा नीतिपरक दोहावली ने इतनी ख्याति अर्जित की और जनमानस ने उसे इस तत्परता से आत्मसात किया कि उसकी संस्कृत कृतियां उपेक्षित तथा अज्ञात ही रही। रहीम ने विविध शैलियों और भंगिमाओं में संस्कृत काव्य की रचना की है। सुखद आश्चर्य है कि रहीम रसखान की भाँति कृष्ण भक्ति से सराबोर है। डॉ. सूफिया ने रहीम के श्रीकृष्ण के प्रति समर्पण भाव तथा उच्छल

भक्ति का विस्तार से निरूपण किया है और उसके हिन्दी पदों, छन्दों के द्वारा उसे विशदता से उदाहृत करने का श्लाघ्य प्रयास किया है (वैचारिकी 2014, नवं-दिसं, पृ.54-56)। किन्तु रहीम की कृष्ण भक्ति की अभिव्यक्ति केवल हिन्दी काव्य तक सीमित नहीं है। उसने संस्कृत कविता में भी भगवान कृष्ण की इतनी भावपूर्ण तथा प्रगाढ़ स्तुति की है कि उसकी मार्मिकता पर सैकड़ों हिन्दू कृष्ण-भक्तों को न्योछावर किया जा सकता है।

डॉ. सूफिया द्वारा उद्धृत *आनीता नाटवन्मया तव पुरः श्रीकृष्ण या भूमिका* आदि के अतिरिक्त निम्नलिखित हृदयस्पर्शी पद भी रहीम की कृष्ण-भक्ति की प्रगाढ़ता का परिचायक है।

रत्नाकरस्तव गृहं गृहिणी च पद्मा
किं देयमस्ति भवते जगदीश्वराय।
राधा गृहीतमनसो मनसोऽस्ति दैन्यं
तन्मे गृहाण पदपंकजमर्पितं ते।।

भगवन्! मेरे जैसा दीन-हीन भक्त आपको क्या दे सकता है? आपका निवास स्थान समुद्र रत्नों का भण्डार है। आपकी पत्नी लक्ष्मी धन की अधिष्ठात्री देवी है, और आप स्वयं जगत् के स्वामी हैं। ऐसे धन-वैभव से सम्पन्न आपको किसी वस्तु की आवश्यकता ही नहीं है। किन्तु सोचने पर ज्ञात हुआ कि आपके पास कम से कम एक चीज़ की कमी है। आपका हृदय राधा ने चुरा लिया है। उसकी पूर्ति के लिये मैं अपना हृदय आपके चरणों मे अर्पित करता हूँ। उसे स्वीकार करें।

क्षीर सारम पहृत्य शंकया
स्वीकृतं यदि पलायनं त्वया।
मानसे मम नितान्त तामसे
नन्दनन्दन! कथं न लीयसे।।

भगवन्! तुमने पड़ौसी ग्वालिनों का माखन चुराया है। तुम्हें डर है कि वे यशोदा मैय्या से शिकायत करेंगी और वह तुम्हारी करारी पिटाई करेगी। अतः आप भाग कर ऐसी जगह छिपना चाहते हो, जहाँ मैय्या तुम्हें ढूढ़ न सके। पर तुम्हें ऐसा कोई स्थान नहीं मिला है, मेरे पास एक ऐसा स्थान है। मेरा हृदय अज्ञान के गहरे अंधेरे से भरा हुआ है। उसमें आकर छिप जाओ। वहाँ से यशोदा मैय्या तो क्या बड़े-बड़े खोजी भी तुम्हें नहीं पकड़ पाएंगे। आप निश्चिन्त होकर वहाँ बैठे रहना।

रहीम की कृति 'गङ्गाष्टकम्' में भी प्रकारान्तर से रहीम की कृष्ण भक्ति को यथेष्ट अभिव्यक्ति मिली है। अष्टक के ग्यारहवें पद्य में रहीम ने स्वयं को 'मुरारि' के चरणों का सेवक (मुरारि पद सेविना) कह कर श्रीकृष्ण के प्रति दास्य भाव को उदारता से रेखांकित किया है। वस्तुतः रहीम की भक्ति कृष्ण तक सीमित नहीं है। सच्चा मुसलमान होते हुए भी रहीम ने हिंदू संस्कृति को भारतीय संस्कृति का पर्याय मान कर उसे इस तत्परता से आत्मसात् किया था कि वह उसके अस्तित्व का अविभाज्य अंग बन गयी थी। यह उसके उदार चिन्तन तथा व्यापक दृष्टिकोण का परिचायक है। हिन्दू प्रतीकों के प्रति रहीम की गहरी आस्था है। उसने श्रीकृष्ण के अतिरिक्त हिन्दू देवकुल के कई अन्य आराध्य देवों की तन्मयता से स्तुति की है, कुछ की हिन्दी में, कुछ की संस्कृत में। श्रीराम की स्तुति में भी रहीम के भक्त हृदय की भावुकता तथा विकलता समान विशदता से बिम्बित है। 'अहल्या पत्थर थी, वानर जन्मजात पशु थे, और गुह अधम चाण्डाल था, पर इन तीनों को, अलग-अलग होते हुए भी, आपने अपने धाम पहुंचा दिया। आपकी कृपा से उन सब को मोक्ष प्राप्त हो गयी। परन्तु प्रभो, ये तीनों विशेषताएँ मुझ अकेले में ही विद्यमान हैं। मेरा हृदय पत्थर (के समान जड़) है, आपके आराधन-वन्दन से अनभिज्ञ होने के कारण मैं पशु-तुल्य हूँ और मेरे क्रियाकलाप चाण्डाल जैसे हैं। हे रघुनन्दन! आप जन्म-मरण के चक्र से मेरा उद्धार क्यों नहीं करते? इन तीन की अपेक्षा, उन्हीं गुणों से युक्त इस एक का उद्धार करना तो कहीं सरल और सुगम है।

अहल्या पाषाणः प्रकृति पशुशसीत् कपिचमू-

गुँहोऽभूचाण्डाल स्त्रितयमपि नीतं निजपदम्।
अहं चिन्तेनाश्मा पशुरपि तवार्चादिकरणे
क्रियाभिश्चाण्डालो रघुवर न मामुद्धरसि किम्।।

गणेश आदि अन्य देव भी रहीम की श्रद्धा के केन्द्र हैं।

पौराणिक धर्म की भक्ति-विह्वलता के कारण मुनि-वेश के कौपीन जैसे तुच्छ वस्त्र-खण्ड और गंगा, यमुना, नर्मदा, गोदावरी आदि पवित्र नदियों को भी देव पद प्रदान किया गया और सुधी स्तोत्रकारों ने उनकी महिमा का तत्परता से गुणगान किया है। रहीम ने भी पुण्य सलिला भगवती गंगा की स्तुति में एक स्तोत्र की रचना की है जो 'गङ्गाष्टकम्' नाम से ख्यात है जिसमें रहीम के भक्तिमय हृदय का सहज, निश्छल उच्छवास है। पौराणिक सन्दर्भों तथा उस की परम पावनी प्रकृति को आधार बनाकर रहीम ने गंगा की महिमा की ऐसी भावपूर्ण स्तुति की है कि प्राचीन स्तोत्रों में गङ्गाष्टक को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। प्रथम आठ पद्यों के चतुर्थ चरण के रूप में प्रयुक्त 'जगत्त्रिदोषतस्तनुं पुनातु जह्नुनन्दिनी' टेक से अष्टक के गौरव में वृद्धि हुई है। ग्यारहवें पद्य में पिता बैराम खान एवं गुरु के प्रति विनय का उल्लेख कर स्तोत्र के फलादेश का कथन है। स्तोत्र की भाव-सम्पदा, पद लालित्य, अन्त्यानुप्रास की झंकृति तथा भक्ति की अप्रतिहत धारा उसके काव्य सौन्दर्य को नयी आभा प्रदान करते हैं। विश्वास करना कठिन है कि इस गंगाष्टक का रचयिता मुस्लिम धर्म का अनुयायी था। समूचा स्तोत्र भक्ति की उद्दामता तथा काव्यलालित्य से ओत-प्रोत है।

शिवोत्तमाङ्गवेदिका विहार सौख्यकारिणी
ततो भगीरथाङ्ग सङ्गमर्त्य लोकचारिणी।
त्रिमार्गगा त्रितापहा त्रिलोकशोकखण्डिनी
जगत्त्रिदोषतस्तनुं पुनातु जह्नुनन्दिनी।।

रहीम बहुभाषाविद् विद्वान् था, यह कथन तथ्य की पुनरुक्ति मात्र है। उसने वेद, उपनिषद्, दर्शन, काव्यशास्त्र, रामायण, महाभारत, भगवद्गीता सहित संस्कृत के समूचे वाङ्मय का अवगाहन कर प्राचीन भारतीय प्रज्ञा के वैभव को निष्ठापूर्वक ग्रहण किया था, जिससे वह उसके हिन्दी काव्य का भी उपजीव्य बन गया। यही कारण है कि रहीम के अनेक दोहे प्राचीन संस्कृत पद्यों, सुभाषितों का अनुवाद हैं। ऐसे दोहों की संख्या भी कम नहीं है, जिनमें संस्कृत वाङ्मय की भावसम्पदा को नूतन भंगिमा अथवा आवरण में प्रस्तुत किया गया है। वे स्वभावतः हिन्दू आचार, सांस्कृतिक गरिमा तथा जीवन पद्धति से अनुप्राणित हैं। उनके सांस्कृतिक आधार को देख कर आश्चर्य होता है कि उनके प्रणेता ने, अपनी इस्लामी प्रतिबद्धता को अक्षुण्ण रखते हुए, किस सीमा तक हिन्दू चिन्तन के साथ भावैक्य स्थापित कर लिया था। कतिपय उदाहरणों से रहीम के संस्कृत साहित्य के प्रति ऋण का आभास मिलेगाः-

(1) यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमजानताम्।।
केनोपनिषद्, 2.3

रहिमन बात अगम्य की, कहन-सुनन की नाहिं।
जे जानत ते कहत नहिं, कहत ते जानत नाहिं।।

(2) कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्म फल हेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ।।
भगवद्गीता, 2.46

निज कर क्रिया रहीम कहि सुधि भावी के हाथ।
पासे अपने हाथ में, दाव न अपने हाथ।।

(3) विकृति नैव गच्छन्ति संगत दोषेण साधवः।
प्रावेष्टितं महासर्पैश्चन्दनं न विषायते ।।

जो रहीम उत्तम प्रकृति का करि सकत कुसंग।
चन्दन विष व्यापत नहीं लिपटे रहत भुजंग।।

(4) को न याति वंश लोके मुखं पिण्डेन पूर्यते।
मृदंगो मुखलेपेन करोति मधुर ध्वनिम्।।

चारा प्यारा जगत में छाला हित कर लेय।
ज्यों रहीम आटा लगे त्यों मृदंग स्वर देय।।

(5) याचना हि पुरुषस्य महत्त्वं ना शयत्यखिलमेव तथाहि।

सद्य एव भगवानपि विष्णुर्वामनो भवति याचितुमिच्छन्।

रहिमन याचकता गहे बड़ो छोट ह्वै जात।
नारायन हू को भयो बावन अंगुर गात।।

रहीम की संस्कृत कृतियाँ उसके काव्य-रचना-कौशल की परिचायक है। उनकी संख्या भले ही अधिक न हो किन्तु उनकी भावसमृद्धि, प्रांजल शैली तथा मनोरम अभिव्यक्ति संस्कृत काव्य के लिये गौरव का विषय है। संस्कृत काव्य की धारा में रहीम का शायद सबसे बड़ा योगदान यह है कि उन्होंने उस मिश्रित (संकर) विधा का प्रवर्तन किया, जिसे मणिप्रवाल शैली कहते हैं। इस शैली में पद्य के कुछ भाग को संस्कृत में तथा कुछ को फारसी, उर्दू, हिन्दी आदि संस्कृतेतर भाषा में निबद्ध कर एक विशेष प्रकार का चमत्कार उत्पन्न किया जाता है। उसने खेट कौतुकम्, त्रयस्त्रिंशद् योगावलि, मदनाष्टक, रहीम काव्य नामक कृतियां इसी मणिप्रवाल शैली में लिखी हैं। जैसा खेट कौतुक में कहा गया है, इस शैली का प्रवर्तन रहीम के पूर्ववर्ती कवियों ने किया था-- *पारसीक पद मिश्रित ग्रन्था खलु पण्डितैः कृताः पूर्वैः*, किन्तु उसे ठोस आधार प्रदान करने का श्रेय रहीम को है। उक्त काव्य कृतियाँ व्याकरण अनुशासन के अधीन संस्कृत छन्द में निबद्ध हैं, किन्तु उनके विभिन्न चरणों में विभिन्न भाषाओं का मिश्रण है। यह शैली कितनी भी रोचक तथा चमत्कारपूर्ण हो, इसका सम्यक् आस्वादन वही सुधी पाठक कर सकता है जो उन भाषाओं की भंगिमा तथा प्रकृति से पूर्णतया अभिज्ञ हो।

खेट कौतुक संस्कृत, फारसी, हिन्दी, उर्दू आदि भाषाओं का विचित्र संगम है। 124 पद्यों की इस अल्पाकार कृति में ज्योतिष, विशेषतः फलित ज्योतिष का निरूपण है। अरबी छन्दों में निबद्ध अन्तिम तीन पद्यों को छोड़ कर शेष समूचे खेट कौतुक की रचना संस्कृत के सुपरिचित छन्दों में हुई है, किन्तु जैसा पहले संकेत किया गया है, इसकी पदावली में कई भाषाओं का गड्डमड्ड है। त्रयस्त्रिंशद्योगावलि भी ज्योतिष से संबन्धित कृति है। इसमे केवल पैंतीस पद्य हैं। खेट कौतुक के विपरीत इसकी रचना प्रायः संस्कृत में की गयी है, केवल योगों के नाम फारसी में दिये गये हैं। मदनाष्टक कृष्ण-भक्ति की उपज है। इसके आठ पदों में रहीम के आराध्य श्रीकृष्ण के सौन्दर्य का चित्रण है। मदनाष्टक के कई पाठ उपलब्ध हैं। इनमें से कौन-सा पाठ रहीम की मौलिक रचना है, इसका निर्णय करना सरल नहीं है। मदनाष्टक में हिन्दी का प्राधान्य है, बीच में कहीं-कहीं संस्कृत पदावली का समावेश किया गया है। नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित संस्करण के प्रत्येक पद्य के चतुर्थ चरण में 'मदनशिरसि भूयः क्या बला आन लागी' टेक का प्रयोग हुआ है। कतिपय उद्धरणों से रहीम की मणिप्रवाल शैली में निपुणता का परिचय मिलेगा---

(1) धनस्थः कुमुद्बन्धु षष्ठे रविस्स्यात्
उतारिद् सुखे व्योम्नि विद्वान्कविश्च।
बृहत् साहिबी शाल मख़्मल्बनातैः
शुतुर्फ़ील फानूस तम्बूकनातैः।।

(2) यदा चश्मखाने भवेदाफ़ताब-
स्तदा ज्ञानहीनोऽय गुस्सावरुद्दाम्।
सदा तंगदिल् सख़्तगो द्रव्यहीनः
कुवेषो गदा स्यान्न होशो हवासम्।।

(3) आयुख़ाने चश्मकोरा मालखाने मुश्तरी।
राहु जो पैदा मकाने शाह होवे मुल्क का।।

(4) करोम्यब्दुर्रहीमोऽहं खुदाताला प्रसादतः।
पारसीय पदैर्युक्तं खेटंकौतुक जातकम्।।-- *खेट कौतुक*

(5) प्रालेयराशौ यदि पापखेटा
लग्ने धने वा व्ययभावयाताः।
मृत्यूकरो वा धनहीनता वा
गता प्रतिष्ठा यदि 'कोश' योगः।।-- *त्रयास्त्रिंशद्योगावलि*

(6) एकस्मिन् दिवसावसान समये मैं था

खड़ा बाग में

काचित्तत्र कुरङ्ग बालनयना गुल तोड़ती थी खड़ी।

तां दृष्ट्वा नवयौवनां शशिमुखीं मैं मोह में जा पड़ा

नो जीवामि विना त्वया शृणु प्रिये तू यार कैसे मिले।।-- *रहीम काव्य*

(7) विगत घन निशीथे चांद की रोशनाई

सघन-घन-निकुंजे कान्ह वंशी बजाई।

सुतपतिगतनिद्राः स्वामियां छोड़ भागीं

मदनशिरसि भूयः क्या बला आन लागी।।- *मदनाष्टक*

रहीम ने अन्यों द्वारा रचित पद्यों में अपनी मान्यताओं तथा आदर्शों के अनुरूप संशोधन भी किया है। यह यद्यपि स्वयं में कोई उपलब्धि अथवा विशिष्टता नहीं है, किन्तु इन संशोधनों से खान-खाना के सौजन्य तथा प्रवीण दृष्टि का संकेत अवश्य मिलता है कि जगन्नाथ त्रिशूली के प्रस्तुत पद्य में कठोर व्यावहारिकता का निरूपण है। सत्ता पाकर शत्रु का अहित और मित्रों तथा बन्धुओं का हित करना व्यावहारिक नीति है।

प्राप्य चलानधिकारान् शत्रुषु मित्रेषु बन्धुवर्गेषु।

नापकृतं नोपकृतं नोपकृतं किंकृतं तेन।।

रहीम ने उत्तरार्द्ध के प्रथम पद में केवल मात्रा परिवर्तित करके (ना को नो बनाकर) पद्य को नवीन आभा से दीप्त कर दिया है। पंक्ति का परिवर्तित रूप-- नोपकृतं नोपकृतं नोपकृतं किंकृतं तेन-- रहीम की विशालहृदयता तथा मानवप्रेम का परिचायक है अर्थात असली आदमी वही है जो सत्ता पाकर केवल मित्रों का नहीं, शत्रुओं का भी समान रूप से भला करे।

इस प्रकार रहीम ने एक ओर संस्कृत में मौलिक काव्य की रचना की, दूसरी ओर नवीन प्रयोगों से काव्य को, सीमित अर्थ में सही, नया स्वरूप प्रदान किया।

7/34, पुरानी आबादी
नामदेव फ्लोर मिल के पास
श्रीगंगानगर (राज.)-335001

●

खुदी को दूर कर

बुल्ले शाह नामी फकीर थे। उनके गुरु माली थे। एक दिन वे अपने गुरु के पास गए और रो-रोकर कहने लगे–'भगवान्! कृपा कीजिए, कोई ऐसा उपाय बताइए कि खुदी (अहंकार) दूर हो और खुदा को पाऊँ?'

गुरु उस समय प्याज की क्यारी से एक गांठ एक तरफ से उखाड़कर दूसरी ओर रोप रहे थे। गुरु कहने लगे– 'खुदा को क्या पाना है, इधर से उखाड़ना और उधर लगाना। अपने भीतर छिपी खुदी को उखाड़कर जन-जन के मन-मन में बो दे। और खाली जगह में खुदा को भर ले। बस, तेरा काम हो गया। अब तू सब में मैं को देखना, कोई गैर न रहे।'

ऐसा प्रेम करके, सब शरीरों के 'मैं' को अपना 'मैं' बना ले। फिर तेरे भीतर 'तू' अल्लाह में समा जाएगा।

सचमुच खुदी को निकालना और खुदा को पाना एक ही बात है। दोनों समानार्थी है।

संत कबीर की साखी साख भर रही है –

'जब 'मैं' था तब 'तू' नहीं, अब 'तू' है 'मैं' नांय।
प्रेम-गली अति सांकरी, तामें दो न समाय।'
या 'तूं-तूं करता तूं भया, मुझमें रही न हूं।'

वर्ण, जाति और आधुनिक भारत की उलझनें

राकेश भारतीय

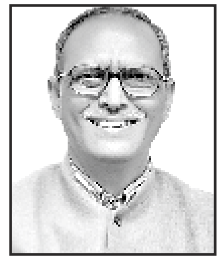

भारतीय संस्कृति-समाज की एक विशिष्ट अवधारणा वर्ण-व्यवस्था है जिसने भारत के ज्ञात इतिहास के अनुसार वैदिक काल में आकार लिया था। बाद के हजारों वर्षों में इस व्यवस्था के मूल स्वरूप और उसमें निहित सोच को निहित स्वार्थों द्वारा इस कदर विकृत किया गया कि आज लोग इसे गरियाने को आधुनिकता समझते हैं। वस्तुतः वर्ण-व्यवस्था के सत्य के संधान की आवश्यकता है।

वर्ण या वर्ण-व्यवस्था के वास्तविक अर्थ की खोज में हम सबसे पहले वेदों की ओर चलते हैं। भारतीय मनीषा के सर्वसमादृत उदाहरण वेदों का अध्ययन किये बिना बस उन्हें ऊँची वेदी पर रखकर धूप-बत्ती दिखाने से सत्य तक नहीं पहुंचा जा सकता। अद्‌भुत दार्शनिक सोच को परा विद्या के रूप में समस्त विश्व के लाभार्थ उद्‌घाटित करने के साथ-साथ वैदिक साहित्य में हमें तत्कालीन समाज के व्यावहारिक पक्ष पर भी प्रचुर सामग्री मिलती है। जहाँ तक वर्ण का सवाल है, शुरू में दो ही वर्णों का जिक्र मिलता है, 'आर्य' और 'दस्यु'। इन दोनों वर्णों को तय करने वाला पैमाना था शारीरिक स्वरूप तथा उपासना-पद्धति। ऋग्वेद के प्रारंभ में आर्य अपने तत्कालीन देवताओं यथा अग्नि, इन्द्र, सोम इत्यादि से शत्रुओं पर विजय के लिए मदद की प्रार्थना करते दिखते हैं; सांसारिक रूप से जरूरी वस्तुओं यथा धन, पशुधन, दीर्घायु इत्यादि के लिए भी प्रार्थना करते दिखते हैं। वैदिक समाज इस काल में स्थायित्व के लिए जूझ रहा था; प्राकृतिक शक्तियों से सामंजस्य बिठाने के लिए जूझ रहा था, तदनुसार वर्ण की वह परिभाषा आकार नहीं ले पाई थी जो कालांतर में एक व्यवस्थित वैदिक समाज को सुचारूरूप से चलाने के लिए वांछित हुई।

प्राकृतिक शक्तियों से सामंजस्य बिठाने के बाद, न सिर्फ अनुष्ठान की पद्धतियों को बल्कि सामाजिक कार्य-विभाजन को भी ढंग से लागू करने के प्रयासों ने ही वैदिक समाज को बाद में वर्ण-व्यवस्था जैसी अवधारणा के लिए प्रेरित किया होगा। यह, निश्चय ही, तत्कालीन किंचित आगे बढ़ चुके वैदिक समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप था। इसी समय 'आर्य' और 'दस्यु' वर्णों की जगह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवम् शूद्र वर्णों के रूप में सामाजिक वर्गीकरण ने आकार लिया। इस वर्गीकरण का आधार क्या था? सबसे प्राचीन वेद, ऋग्वेद से ही उदाहरण है। पुरुष सूक्त कहता है-- "ब्राहमणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः, उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत"। अर्थ है कि उस पुरुष (आदिपुरुष) का मुख ब्राह्मण

हुआ। उसकी दो भुजाओं से क्षत्रिय बने। उसकी दो जांघों से वैश्य बने और उसके दो पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए। क्या किसी भी समाज में, वैदिक या आधुनिक युग में मुख या भुजाओं या जांघों या पैरों से किसी मनुष्य की उत्पत्ति संभव है? नहीं, बिलकुल नहीं ! यह सूक्त तो सांकेतिक है चारों वर्णों की सामाजिक उपयोगिता के गुण विशेष मात्र का, वैसे भी शरीर में सारे अंग समान रूप से महत्वपूर्ण हैं, ऊँच-नीच का प्रश्न नहीं। पर भेदभाव के दुराग्रही इस सूक्त का मनमाना अर्थ कर जन्म से ही किसी व्यक्ति के श्रेष्ठ या हीन होने की वैचारिक पतंगें उड़ाते रहे हैं। मगर ऋग्वेद के नवम मंडल में एक और सूक्त है जो स्पष्ट रूप से एक ही परिवार के व्यक्तियों के अलग-अलग वर्ण यानी अलग-अलग प्रकृति के कर्म होने की पुष्टि करता है--"नानानं वा उ नो धियो वि व्रतानि जनानाम- - - - - - कारूरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी न ना नानाधियो वसूयवो नु गा इव तस्थिमेन्द्रायेन्दो परिस्त्रव"। अनुष्ठान, वैद्यकी, चक्की पीसने जैसे अलग-अलग वर्णो के लिए निर्धारित या अलग-अलग वर्णों के अनुरूप कर्म करने वाले व्यक्तियों के एक ही परिवार में होने की यह पुष्टि, जन्म से वर्ण निर्धारित होने के मिथ्या प्रचार का निषेध करती है।

वेदों के बाद हम आते हैं, आज भी बेहद प्रासंगिक, कर्मयोग के अद्‌भुत ग्रंथ भगवद्‌गीता (महाभारत) पर। चौथे अध्याय के तेरहवें श्लोक में श्रीकृष्ण कहते हैं-- "चातुरवर्ण्यं मया सृष्टम् गुणकर्मविभागशः" (मेरे द्वारा इन चारों वर्णों की सृष्टि गुणों एवम् कर्म के आधार पर की गई है)। वर्णों के निर्धारण के आधार पर इतने स्पष्ट प्रमाण के बाद शंका की कोई गुंजाइश बची नहीं रहनी चाहिए। फिर, सिर्फ जन्म के आधार पर, गुण एवम् कर्म को धता बताकर, किसी को जाति व्यवस्था जैसी घोर अवैज्ञानिक व्यवस्था में बांध देने की विकृति आई कहाँ से? जो जन्म से ही किसी को समाज में 'ऊँचा' या 'नीचा' देखकर सामाजिक विद्वेष का सतत कारण बनी हुई है।

जाति व्यवस्था की उत्पति के बारे में ठीक-ठीक बता पाना किसी के लिए भी संभव नहीं हो पाया है, बस अनुमान लगे हैं या एकतरफा फतवे जारी किए गए हैं। यहाँ तक कि इस व्यवस्था के कथित रूप से प्रतिपादक ग्रंथ 'मनुस्मृति' को बिना पढे-गुने जीभर के गरियाने की होड़ भी लगी है। तो कोशिश करें देखने की कि 'मनुस्मृति' में आखिरकार है क्या इस बारे में। अपने पहले ही अध्याय के श्लोक 31 में मनुस्मृति का कहना है--- लोकानां तु विवृद्धयर्थे मुखबाहूरूपादतः। ब्राह्मणं क्षत्रिय वैश्य शूद्र च निरवर्तयत्।। (लोकवृद्धि के लिए ब्रह्मा ने मुख, बाहु, उरुऔर पैर से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की सृष्टि की)। यही बात पुरुषसूक्त में है जिसका जिक्र ऊपर किया जा चुका है, प्रतीकार्थ के साथ। इसी अध्याय के श्लोक 87 में कहा गया है कि चारों वर्णों के कर्म भी ब्रह्मा ने सृष्टि की रक्षा के लिए बनाये- सर्वस्वास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः। मुखबाहूरूपज्जानां पृथक्कर्मायकल्पयत्।। फिर श्लोक 88 से 91 तक हर वर्ग के कर्म व्याख्यायित किये गये हैं, पहले तीन वर्णों के लिए दान और यज्ञ समान कर्म है। उदाहरण के लिए, ब्राह्मण वर्ग के लिए निर्धारित कर्म है (श्लोक 88)-अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा। दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्। (पढ़ाना, पढ़ना, यज्ञ कराना एवम् करना तथा दान देना और लेना, इन कर्मो को ब्राह्मणों के लिए बनाया)। यहाँ तक तो सब ठीक है, श्लोक 96 का यह कहना भी तार्किक रूप से सही लगता है कि भूतों में प्राणधारी जीव श्रेष्ठ हैं, प्राणियों में बुद्धिजीवी श्रेष्ठ है, बुद्धिजीवियों में मनुष्य श्रेष्ठ हैं और मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं। पर श्लोक 99 में एक विचित्र और घोर अतार्किक वक्तव्य समाहित है-- ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधिजायते। ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये।।

(उत्पन्न होते ही ब्राह्मण पृथ्वी पर श्रेष्ठ माना जाता है, क्योंकि वह धर्म की रक्षा के लिए समर्थ होता है)।

आश्चर्य, घोर आश्चर्य! कैसे एक नवजात बच्चा ब्राह्मण के लिए निर्धारित कर्म यथा अध्यापन, अध्ययन, यजन, याजन, दान एवम् प्रतिग्रह (श्लोक 88) में पारंगत होकर धर्म की रक्षा के लिए समर्थ हो जायेगा? अभी खुद से खा-पी नहीं सकता, मलमूत्र-विसर्जन के लिए माँ-पिता पर निर्भर है, उठने-बैठने लायक तक नहीं हुआ और एक नवजात बच्चा इन सारे उत्कृष्ट कर्मों में निष्णात होकर धर्म की रक्षा भी करने लगा। जब एक भ्रामक स्थापना को थोपने की कोशिश होती है, किसी भी तरह से उसको सही ठहराने का दुराग्रह होता है तो आगे कहीं न कहीं चोरी पकड़ी ही जाती है क्योंकि कहीं आगे चलकर स्थापना के अंतर्विरोध सामने आते ही आते हैं। मनुस्मृति के साथ भी यही हुआ, जो हम आगे देखेंगे।

वर्ण के मामले में मनुस्मृति बावजूद वेद की परोक्ष और भगवद्गीता की प्रत्यक्ष व्याख्या के, चूक के बाद चूक करती गई है, जन्म से वर्ण निर्धारित करने की अपनी सिरे से गलत स्थापना में उलझती चली गई है। द्वितीय अध्याय का श्लोक 155 देखें--"विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः। वैश्यानां धान्यधनतः शूद्रणामेव जन्मतः"।।

(ब्राह्मणों की विद्या से, क्षत्रियों की बल से, वैश्यों की धन से और शूद्र की जन्म से ज्येष्ठता होती है)। तब तो नवजात बच्चा मात्र शूद्र हो सकता है, आगे वयस्क होकर किस गुणस्वभाव का परिचय देगा, वही उसे ब्राह्मण या क्षत्रिय या वैश्य बना सकता है। जाहिर है, मनुस्मृति की स्थापनाओं में अच्छा-खासा अंतर्विरोध है। एक और उदाहरण-- "नाभिव्याहारयेद् ब्रह्म स्वधानिनयनादृते। शूद्रेण हि समस्तावद्यावद् वेदे न जायते"।। (अध्याय 2 श्लोक 172)। (ब्राहमण आदि बिना यज्ञोपवीत संस्कार हुए श्राद्ध कर्म के अतिरिक्त कर्म में वेदमंत्र का उच्चारण न करें क्योंकि जब तक वह वेद में अधिकारी न हो, तब तक वह शूद्र के समान है)। एक बार फिर, प्रकारांतर से उसी बात की पुष्टि हुई कि गुण-विशेष होने पर ही कोई किसी वर्ण का कहा जा सकता है, जन्म से बिलकुल नहीं।

दरअसल, वेदों के काल से मनुस्मृति का काल आते-आते भारतीय समाज में गुण एवम् स्वभाव के अनुरूप किसी का कर्म निर्धारित कर उसे व्यापक समाज के लिए उपयोगी बनाने के स्थान पर जन्म से ही किसी को ब्राह्मण इत्यादि मनवाने का दुराग्रह तो आकार ले ही चुका था, व्यावहारिक जीवन में उसे न मानकर विपरीत आचरण के भी उदाहरण दर उदाहरण थे; यह मनुस्मृति में ही कई स्थानों पर भलीभांति देखा जा सकता है-- (1) "चिकित्सकान्देवलकान्मांस-विक्रयिणस्तथा। विपणेन च जीवन्तो वर्ज्याः स्युर्हव्यकव्ययोः" (अध्याय 3, श्लोक 152)। (वैद्य, मंदिर का वेतनभोगी पुजारी, एक बार भी मांस बेचनेवाला और व्यापार कर्म से जीनेवाला-- इन ब्राह्मणों को हव्य तथा कव्य (देवकार्य तथा पितृश्राद्ध) में भोजन न कराया जाए)। अब जन्म से ही ब्राह्मण घोषित करने की नकली व्यवस्था तो आपने लागू कर ली पर पेट भरने का कोई और साधन होने के अभाव में वह बेचारा वेतनभोगी पुजारी या मांसविक्रेता या व्यापारी बन जाए तो उस नकली व्यवस्था के आक्रोश में भले आप मंदिर के भंडारे या श्राद्ध में उसे शामिल न होने दें, वह आपकी नकली व्यवस्था की धज्जियां उड़ाता हुआ तथा समाज में उस कर्म को करता हुआ बाकायदा डटा ही है। (2) गुरुवतप्रतिपूज्याः स्युः सवर्णा गुरुयोषितः। असवर्णास्तु संपूज्याः प्रत्युत्थानाभिवादनैः।। (अध्याय 2, श्लोक 210)। (गुरु की सवर्ण स्त्रियाँ गुरु के समान पूज्य हैं और असवर्ण स्त्रियाँ प्रत्युत्थान तथा नमस्कार मात्र से ही पूज्य हैं)। अब अपने रूप-गुण के बूते पर कोई शूद्र कन्या ब्राह्मण गुरु की पत्नी बन गई तो भले आप नकली व्यवस्था के तहत उसके कम पूज्य होने की खिजलाहट को शब्द देते रहें, गुरु तो उसे ससम्मान पत्नी के रूप में ग्रहण किये हुए ही हैं। प्रकारांतर से यह श्लोक इसका भी प्रमाण है कि

रूप-गुण की पात्रता हो तो जन्मना शूद्र मानी जा रही कन्या गुरु के रूप में समादृत कर्मणा ब्राह्मण की भार्या बनती थी)। (3) दशम अध्याय के श्लोक 81 में मनुस्मृति व्यवस्था देती है कि ब्राह्मण यदि अपने निर्धारित कर्म से निर्वाह न कर सके तो क्षत्रिय के कर्म से निर्वाह करे और श्लोक 82 की व्यवस्था के अनुसार ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों के लिए निर्धारित कर्म करने में असमर्थ ब्राह्मण वैश्य के कर्म (खेती, गोपालन और व्यापार) से निर्वाह कर सकता है। परंतु इसी अध्याय के श्लोक 52 में व्यवस्था दी जाती है कि ब्राह्मण दूध बेचने से तीन दिन में शूद्र के तुल्य हो जाता है-- सद्यः पतति मांसेन लाक्षया लवणोन च। व्यहेण शूद्रो भवति ब्राहमणः क्षीरविक्रयात्।। (आपत्ति में पड़ा हुआ ब्राह्मण भी मांस, लाख और नमक बेचने से तत्काल पतित होता है और दूध बेचने से तीन दिन में शूद्र के तुल्य होता है)। एक तरफ तो जन्म से ब्राह्मण घोषित किये गये, पर ब्राह्मण या क्षत्रिय कर्म तक कर पाने में असमर्थ व्यक्ति को आप वैश्य के कर्म करने की अनुशंसा करें और दूसरी तरफ वैश्य कर्मानुसार गाय-भैंस पालकर वह दूध बेचने लगे तो उसे तीन दिनों में शूद्र बना दिया जाए। ये बस कुछ उदाहरण हैं मनुस्मृति से जो यह इंगित करने के लिए काफी हैं कि जन्मना वर्ण निर्धारित करने की नकली व्यवस्था व्यावहारिक जीवन में लागू नहीं हो पा रही थी तो इस तरह की परस्पर विरोधाभासी बातें झोंककर उसे किसी भी तरह मनवाने का प्रयास किया जा रहा था।

मनुस्मृति से लेकर आधुनिक काल तक विवाह भारतीय समाज के लिए बड़ा महत्वपूर्ण संस्कार रहा है, है भी। जन्मना वर्ण निर्धारित करने के दुराग्रह और आगे उस दुराग्रह की धज्जियां उड़ने के विवाह की व्यवस्थाओं में प्रमाण; दोनों ही मनुस्मृति में देखे जा सकते हैं। एक जन्मना वर्ण के अन्य किसी जन्मना वर्ण में विवाह के माध्यम से जुड़ने के फलस्वरूप उत्पन्न संतान के वर्ण को बड़े हास्यास्पद और नितान्त अव्यावहारिक रूप से निर्धारित करने के प्रयासों का। एक उदाहरण काफी होगा, वर्णसंकर संतानों (यहाँ जन्मना वर्ण से अभिप्राय है) की कोटि निर्धारित करनेवाली व्यवस्थाओं से भरे हुए दसवें अध्याय से-- "शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः श्रेयसा चेत्प्रजायते। अश्रेयान् श्रेयसीं जाति गच्छत्या सप्तमाद् युगात्"।। (अध्याय 10, श्लोक 64)। (ब्राह्मण से शूद्रों में उत्पन्न कन्या (श्लोक 8 के अनुसार पारशव कही जाने वाली) ब्राह्मण से विवाह कर कन्या उत्पन्न करे, (इस प्रकार) वह सातवीं पीढ़ी में श्रेष्ठ जाति को प्राप्त करती है)। पहले तो सिद्ध हुआ कि ब्राह्मण शूद्र स्त्री से विवाह करते थे, पारशव नामक वर्णसंकर संतान कही जाने वाली उनकी कन्या भी ब्राह्मण से विवाह करती होगी; जन्मना वर्ण के मकड़जाल में बस एक लीपा-पोती छाप कथन छोड़ दो कि उसकी सातवीं पीढ़ी उच्च जाति की मानी जाएगी।

जन्मना जाति या वर्ण (जिसे समानार्थक मनवाने का लगातार प्रयत्न है) को श्रुति एवम् भगवद्गीता में अनुशंसित गुण-स्वभाव के आधार पर वर्ण-निर्धारण के ऊपर थोपने का कृत्य आखिर किसने अंजाम दिया, किस मकसद से? ऊपर कहा जा चुका है कि जाति-व्यवस्था यानी जन्म से ही नवजात को इस या उस जाति (या वर्ण) का मान लेने वाली नकली व्यवस्था की उत्पत्ति के बारे में ठीक-ठीक बता पाना मुश्किल है, पर कुछ अनुमान वाजिब है। एक व्यक्ति ब्राह्मण या क्षत्रिय कर्म में निष्णात है, उस आधार पर ब्राह्मण या क्षत्रिय कहा जा रहा है और समाज में समादृत है पर उसकी संतान में उसके गुणों का दूर-दूर तक पता नहीं है। गुण-स्वभाव का आधार लें तो वह शूद्र वर्ण में गिनी जायेगी। कैसे बर्दाश्त कर लें समाज के इतने समादृत व्यक्ति इतनी 'बेइज्जती'? और ऐसी 'नालायक' संतान के हजारों उदाहरण होंगे, हजारों ऐसे समादृत 'सवर्ण' अभिभावक होंगे। संतान का 'वर्ण-उद्धार' करने के उनके सतत एवम् समानान्तर प्रयत्नों

ने ही संभवतः वह कड़ी बनाई होगी जिसने कालान्तर में जन्मना वर्ण (या जाति) निर्धारित करने वाली नकली व्यवस्था को जातिव्यवस्था के रूप में आकार दिया होगा। समाज में कहीं भी इस घपले का विरोध नहीं हुआ?

जाति व्यवस्था के नकलीपन का सबसे तार्किक एवम् प्रभावी प्रतिरोध संतकवियों की रचनाओं में देखा जा सकता है। संत कवि अपने-अपने व्यावहारिक प्राप्त कर्म में निष्णात होने के साथ-साथ भारतीय मनीषा के सर्वोच्च ज्ञान अर्थात ब्रह्मज्ञान की भी सीढ़ी के सर्वोच्च पायदान पर पहुँच चुके थे। उन्होंने अद्‌भुत तर्क, धारदार भाषा, व्यावहारिक जीवन से उदाहरण इत्यादि का सहारा लेकर जातिव्यवस्था पर प्रहार किया तथा भ्रमित लोगों को जगाने की कोशिश की। कुछ उदाहरण उनके काव्य से-- (1) जाति का गरब ता करि मूरख गवारा, इसु गरब ले चलहि बहुत विकारा। (गुरु अमरदास)। (2) एक बूँद, एक मल-मूतर, एक चाम, एक गूदा। एक ज्योति तें सब उत्पन्ना, को बामन को सूदा। (संत कबीर)। (3) खत्री बाह्मन शूद्र बैस की, जाति पूछ नहिं देता दाता। (गुरु नानक)। (4) जो पै करता बरन बिचारै, तौं जनते तीनि डांडि किन सारै। जो तू बाभन बभनी जाया, तौ आन बाट होइ काहै न आया। (संत कबीर)। सवाल यह उठता है कि इतने प्रभावी संत-वचनों के बावजूद जातिव्यवस्था कायम कैसे रही, बल्कि और जटिल होकर समाज को और जकड़ती क्यों गई। दरअसल, संत कवियों का काल राजनीतिक-सामाजिक-सांस्कृतिक रूप से एक संक्रमण काल था। विदेशी भूमि से भारत की उर्वर भूमि में समृद्धि के आकांक्षी आक्रमणकारी न सिर्फ आये बल्कि राजा के रूप में काबिज भी हो गए। एक तरफ उनमें से कुछ बड़े प्रशंसनीय उदाहरण, भारत की संस्कृति में रम कर इसके सकारात्मक पहलुओं के प्रतीक ही बन गए तो दूसरी तरफ भारत के मूल निवासी जरूरत से ज्यादा सुरक्षात्मक होकर सामाजिक-सांस्कृतिक रूप से सिकुड़ने लग गए या रूढ़ियों को पकड़कर बधे-बंधाये खांचों में 'शुद्ध' बने रहने का भ्रम पालने लगे।

पहले ही तमाम तरह के नकलीपन को समोई हुई जातिव्यवस्था के सामने विकट यह चुनौति आन पड़ी कि विदेशी भूमि से आकर मूल निवासियों के सिर पर राजा-महाराजा की तरह बैठ गए इन विदेशियों को कहां फिट करें। आखिरकार मात्र एक राजा-महाराजा का सवाल तो नहीं था, उनके सेनानायक से लेकर सिपाही तक हजारों और विदेशियों को फिट करना था। अब उन्हें सीधे शूद्र कहते तो मार पड़ती, खालिस क्षत्रिय बताते तो नकलीपन संभालने से बाहर हो जाता, तब नायाब व्यवस्था दी गई कि वे पूर्वजन्म की या भूतपूर्व क्षत्रिय जातियां हैं जो क्रियालोप आदि के कारण शूद्रत्व को प्राप्त हो गई (अध्याय 10, श्लोक 43 और 44)-- शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रिय जातयः। वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणा दर्शनेन च।। पौंड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनः शकाः। पारदाः पह्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः।। (पौंड्रक, चौड्र, द्रविड़, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पहलव, चीन, किरात और शक जातियां क्षत्रिय थी पर धीरे-धीरे क्रिया (यानी यज्ञोपवीत, संध्यावंदन इत्यादि) के छूट जाने तथा ब्राह्मणों के दर्शनाभाव- (यानी उनके बिना ही यज्ञ, अध्ययन, प्रायश्चित इत्यादि करने से शूद्रत्व को प्राप्त किया है)। सामाजिक-राजनीतिक वस्तुस्थिति में जन्मना जाति-निर्धारण को किसी भी तरह से सही और कारगर साबित करने की हास्यास्पद कोशिशों का यह भी नतीजा हुआ कि मनुस्मृति ने जन्मना ब्राह्मणों को ब्राह्मणों के लिए 'अनुचित' आचरण से विमुख करने के बारे में एक के बाद एक (यहाँ तक कि विरोधाभासी) व्यवस्थाएं झोंक डालीं, जैसे - श्राद्ध में भोजन करनेवाले ब्राह्मण के लिए उसी दिन दुबारा भोजन करने का निषेध (अध्याय 3, श्लोक 259), लहसुन-प्याज से लेकर शलगम खाने का निषेध (अध्याय 4, श्लोक 5), मछली खाने का

निषेध (अध्याय 5, श्लोक 15), यज्ञ के लिए पशुवध करे (अध्याय 5, श्लोक 39) पर मांस भक्षण नहीं करे, पर मांस भक्षण की इच्छा हो तो आटे का पशु खाने की अनुशंसा (अध्याय 5, श्लोक 37), मांस बिलकुल न खाने वाले को सौ वर्ष तक अश्वमेध यज्ञ करने के बराबर पूण्य अर्जित करनेवाला बताना (अध्याय 5, श्लोक 53) इत्यादि इत्यादि।

कुल मिलाकर जन्मना ब्राह्मण घोषित किया जाना ही किसी भले आदमी के लिए बवाले-जान हो गया, जिंदगी भर यही नापता-तौलता रहे कि क्या करना सम्मत है, क्या नहीं। इन्ही सुरक्षात्मक नकली रूढ़ियों ने उपनिषदों में अद्‌भुत रूप से व्याख्यायित एकत्व की धारणा को आवृत कर भारतीय समाज को व्यवहार में पोंगापंथी के जाल में उलझा कर रख दिया और समाज की सामाजिक-सांस्कृतिक-आध्यात्मिक शक्ति को कुंद कर रख दिया। आश्चर्य है कि जब भारत को अंग्रेजों की गुलामी में जीना पड़ रहा था तो दक्षिण के एक मंदिर के हाथी के मस्तक पर वैष्णवी के इस पंथ का तिलक लगेगा कि उस पंथ का विवाद प्रिवी कौंसिल तक ले जाया गया था? नकली व्यवस्था के तहत 'सम्माननीय' या 'विद्वान' बने हुए जन्मना ब्राह्मणों के 'ज्ञान' का स्तर यह कि पश्चिम में भारतीय मनीषा का झंडा अद्‌भुत और अविस्मरणीय रूप से फहरा कर लौटे विद्वत्ता के अप्रतिम उदाहरण स्वामी विवेकानंद के बारे में यह कहने तक की हिमाकत हुई कि उन्हें तो धर्म पर बोलने का अधिकार ही नहीं है क्योंकि वे जन्मना शूद्र अर्थात् कायस्थ थे।

आधुनिक भारत में जातिव्यवस्था के अस्तित्व को खाद-पानी देते रहने वाले दो प्रमुख कारक हैं, राजनीति और विवाह तय करने की पद्धति। राजनीति को हमारे जीवन को प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से लपेटकर ही रहती है। किस जाति के कितने प्रतिशत मतदाता किस क्षेत्र में हैं, यह राजनीतिक दलों (तथाकथित वामपंथी दलों समेत) के उम्मीदवार चुनने में तो महत्वपूर्ण होता ही है, हिंदी से लेकर अंग्रेजी या अन्य भाषाओं के अखबार भी इसी आधार पर उनकी सफलता-असफलता का अनुमान लगाने वाले विश्लेषण डंके की चोट पर छापना शुरू कर देते हैं, चुनाव आते ही। मानों सारे के सारे मतदाता गुण-दोष का विचार किये बिना जाति देखकर ही बटन दबायेंगे। आश्चर्य यहीं पर समाप्त नहीं होता सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह होता है कि अपवाद को छोड़कर जातिभाइयों (या बहनों) के बूते पर उम्मीदवार की नैया पार लगने का अनुमान सही निकलता है। दुनिया कहाँ से कहाँ पहुंच गई, आदमी चांद पर जा चुका और मंगल पर जाने की तैयारी में है; पर हमारी भारत भूमि के आधिकारिक नीतिनिर्माता चुने जा रहे हैं उसी नकली और निराधार जातिव्यवस्था के नकलीपन को आधार बनाकर!

अगर विवाह तय करने के प्रकार की बात की जाए तो इक्कीसवीं सदी के भारत में भी अधिकांश विवाह माँ-बाप द्वारा ही तय किए हुए हो रहे हैं। थोड़ा परिवर्तन यह आया है कि ऐसे विवाहों में लड़का-लड़की की मर्जी या पसंद को भी पर्याप्त भाव मिलने लगा है। माँ-बाप द्वारा तय किए गए विवाह में पहली चीज जो देखी जाती है वह जाति ही है, यहाँ तक कि एक ही जाति के भीतर उपजाति की भी महत्ता है। भारतीय जातिव्यवस्था का हाल इतना उलझा हुआ है कि तथाकथित श्रेष्ठ ब्राह्मण जाति की कान्यकुब्ज उपजाति में भी जो बीस बिसवा का कान्यकुब्ज ब्राह्मण है वह खुलेआम सोलह बिसवा के कान्यकुब्ज ब्राह्मण को नीचा देखेगा, भले सोलह बिसवा वाला उससे हैसियत के आर्थिक पैमाने पर कहीं ज्यादा मजबूत हो। मजे की बात यह है कि यह उपजाति वाला ऊँच-नीच का रोग हर जाति को जकड़े हुए है, तथाकथित पिछड़ी जातियों को भी। जाति-उपजाति के मकड़जाल ने सोच को इस कदर घेर रखा है कि तथाकथित प्रगतिशील बुद्धिजीवी समानता का भाषण भले सार्वजनिक रूप से देते रहें, व्यक्तिगत बातचीत और आचरण में वे संकीर्णता की पर्त दर

पर्त में लिपटे मिलते हैं।

स्वतंत्र भारत में आर्थिक-सामाजिक रूप से पिछड़े तबकों को आगे बढ़ाने के एक उपाय के रूप में आरक्षण की संवैधानिक व्यवस्था लागू की गई, कुछ जातियों को पिछड़ी मान लेना ही इसका आधार बना। कालांतर में आरक्षण के लाभ के दायरे में और जातियां लाई गई। यह पूरा प्रकरण सर्वज्ञात है ही, बस खास बात ये हैं कि इक्कीसवीं सदी आते-आते इसमें एक विचित्र आयाम जुड़ गया। आरक्षण के सहारे लाभार्थी जातियों के कुछ लोगों को ज्यादा ही मजबूत होता देखकर कुछ अन्य जातियों में आरक्षण का लाभ लेने की आकांक्षा जाग गई, भले पारम्परिक रूप से समाज में अगड़ी ही मानी गई है और अच्छी खासी भूमि या धन रखने वाले लोगों से भरी हुई हैं। जाति को मोहरा बनाकर चुनावी दांव जीतने के दुराग्रही राजनीतिक दलों ने पूरे मामले को इस वाहियात तरीके से हवा दी है कि अपने को जात-पांत से ऊपर उठकर ख़ालिस हिंदुस्तानी मानते आये अच्छे-खासे लोग भी इस या उस तरफ खड़े होने की पक्षपाती भावना पालने को कुलबुलाने लगे हैं।

एक तरफ जहाँ इक्कीसवीं सदी के 'आधुनिक' भारत में अंतर्जातीय विवाहों को लेकर फतवे जारी करने वाली खांप-पंचायतें और सम्मान को बचाने के लिए हत्या करने वाले मौजूद हैं, वहीं दूसरी तरफ बदलाव की बयार भी बहती दिख रही है। लड़कियों के शिक्षा प्राप्त करने का प्रतिशत बढ़ा है और उसके बाद नौकरी पाकर अपने ऊपर निर्भर हो जाने का प्रतिशत भी। पढ़ी-लिखी आत्मनिर्भर लड़कियां स्वयं से जीवन-साथी, भले दूसरी जाति का, ढूंढ़ लें तो उन्हें दबाना-धमकाना इतना आसान नहीं होता। ऊपर से परिवार पढ़ा-लिखा या प्रगतिशील विचारों का हो तो ऐसे जाति से इतर पर गुण-स्वभाव में समान जीवन-साथी के चुनाव पर आपत्ति की गुंजाइश कम ही बचती है। विशेषकर शहरी तथा अर्धशहरी इलाकों में इस तरह के अंतर्जातीय विवाहों की स्वीकार्यता दिन-प्रतिदिन बढ़ रही है। तो हम उम्मीद पर कायम हैं कि जातिव्यवस्था जैसी निहित स्वार्थों द्वारा सामाजिक भेदभाव को पालने वाली विकृति को भारतीय समाज देर-सबेर उखाड़ फेंकेगा ही और इसके सूत्रधार कालांतर में आज के वही युवक-युवती बनेंगे जो गुण-स्वभाव के आधार पर ही जीवन-साथी चुनने जा रहे हैं और इस बात को लेकर तार्किक रूप से व्यावहारिक और मुखर भी हैं।

590, डी.डी.ए., फ्लैट्स, पाकेट-1,
सेक्टर-22, द्वारका, नई दिल्ली-110077
मो.- 09968334756
ईमेल : bhartyar@gmail.com

●

असल में 'आदमी' जब 'पुस्तक' बन जाने की कोशिश करता है तो उसमें से आदमी का अपना स्वाद जाता रहता है। - टैगोर

रूखा शीशा जो टूटे तो, सब कोई सुन पाते हैं, कुचला जाना हृदय कुसुम का, किसे सुनाई पड़ता है। - प्रसाद

नेपाल-बिहार की कुछ जातियाँ : एक अध्ययन

डॉ. हरिकृष्णप्रसाद गुप्त अग्रहरि

कलवार : नेपाल वास्तव में विभिन्न जातियों की फुलवारी है। सम्पूर्ण नेपाल में लगभग 150 विभिन्न जातियाँ निवास करती हैं। नेपाल में कलवारों की कुल जनसंख्या-1,28,232 है। नेपाल में अग्रवालों (मारवाड़ियों) के बाद कलवार जाति का दूसरा स्थान है। कलवार जाति में विख्यात शाखा बीजाहुत (ब्याहुत) कहलाती है। मनीषियों का मत है कि यह ब्याहुत का अपभ्रंश है। श्री रजनीकान्त शास्त्री ने इसे 'ब्या-हुत' से बना बताया है। विया बीज को कहते हैं। 'हुत' शब्द का मूल भूत है। बीजभूत शब्द 'मनुस्मृति' में आया है। 'भ' का 'ह' होना संस्कृत भाषा में पाया जाता है। विद्वान इसे 'विवाह-उत्थ' समस्त पद का अपभ्रंश मानते हैं और अर्थ करते हैं-- शास्त्रानुसार विवाह से उत्पन्न संतान। कलवारों में बीजाहुत तथा सगाहुत दो उपवर्ग हैं। सन् 1901 की जनगणना के अध्यक्ष मिस्टर इ. ए. गाईट वियाहुत जाति के विषय में लिखा है--- आदि पुरुष की दो स्त्रियाँ थी-- एक कुमारी और दूसरी विधवा। विवाहित (कुमारी कन्या) के वशंज ब्याहुत हैं और अन्य वर्ग विधवा स्त्री से उत्पन्न हुए हैं। ब्याहुतों के यहाँ विधवा विवाह नहीं होता, पर अन्य वर्गों में होता है। पद में ब्याहुत सब से ऊँचे, पर सगाहुत नीचे हैं। ब्याहुतों को छोड़कर शेष सभी वर्ग परस्पर समान हैं।

प्रारंभ में इस जाति का परिचय 'ब्याहुत' से न होकर यदुवंशी क्षत्रिय से होता रहा। ब्याहुत शब्द से परिचय देने की जरूरत तब पड़ी जब मूल जाति के किसी आदि पुरुष ने अपनी अविवाहित स्त्री से संतानें या अव्याहुत वर्गों को उत्पन्न किया। अतः मूल जाति ने अव्याहुत वर्गों की अपेक्षा अपनी भिन्नता एवं श्रेष्ठता दिखलाने के लिए 'ब्याहुत' उपनाम धारण कर लिया। श्री रजनीकांत शास्त्री ने अपनी पुस्तक 'वियाहुत वंश का इतिहास' में शब्द 'वियाहुत' का ही प्रयोग किया है तथा उन्होंने शब्द 'वियाहुत' को संस्कृत का मूल शब्द कहा है इसके अतिरिक्त इस शब्द का जिन रूपों में प्रयोग हुआ है, वह भी विचार करने योग्य है। 'ऋग्वेद' में एक प्रसंग इस प्रकार हैः-- 'यो विशेषरूपेण सम्यक प्रकारेण सोमयज्ञेषु। यो जूहोति विद्वभि रिज्यते स ब्याहुतः।। समन्तात स्वीकृत पुरुष वाक्ययानसारेणायः। सोम यज्ञेषु कार्य समपदानार्थम् समतात् स्वीकृत स-ब्याहुतः।' 'ब्याहुत वंश दर्पण' के लेखक श्री परशुराम ब्याहुत एम. ए. ने लिखा है-- वि-आहुतः धातु से सिद्ध होता है। अर्थात् विशेष रूप से जो पुरुष यज्ञ में आहुति डालते हैं और विद्वानों द्वारा पूजे जाते हैं वे ब्याहुत हैं। इससे साबित होता

है कि ये सोमयज्ञ के प्रधान नेता कर्त्ता-धर्त्ता हैं।

शाब्दिक व्युत्पत्ति से कल्चूरि, कलार, कलवार, कल्यपाल, कलवाला, कल्लवल आदि शब्द समानार्थक हैं। राज्य कुलों में ये कल्यपाल भोजन-भण्डार आदि की व्यवस्था करते थे। बाद में अन्न उत्पादान और अन्न का व्यापार भी कुछ लोग करने लगे। 'कीलाल' शब्द वेदों से आया है और तेज व अन्न के अर्थ में आया है। कीलाल अमृत पेय के अर्थ में भी आया है। प्रसिद्ध इतिहासकार स्व. चिन्तामणि हठेला 'मणि' के अनुसार कलवार वास्तव में चन्द्रवंशीय हैहय क्षत्रिय हैं, उनका उद्‌भव अत्रि गोत्र से है। अत्रि से चन्द्रमा और उनसे ययाति। ययाति की ब्राह्मणी पत्नी देवयानी के गर्भ से यदु और तुर्वसु दो पुत्र हुए। यदु की तीसरी पीढ़ी में हैहय हुए जिनसे यह वंश चला।

'मेदनीकोष' में 'कल्यपाल' शब्द का प्रयोग हुआ है। इसका अर्थ है न्यायाधिपति प्रजापति। 'कल्हण कृत' 'राजतरंगिणी' नामक संस्कृत ग्रंथ में जो कश्मीर के प्राचीन महाराजाओं का इतिहास है, राज्यक्रम का वर्णन करते हुए आचार्य ने करकोट राज वंश के पश्चात् 'कल्यपाल' राज वंश का वर्णन किया है। 'कल्यपाल' के वंशज अपने आगे वरमन(वर्मन) उपाधि का प्रयोग करते थे। 'वरमन' (वर्म्मन) की उपाधि केवल क्षत्रियों के लिए ही प्रचलित थी। आज भी कलवार जाति के लोग इस उपाधि का प्रयोग करते हैं। 'कल्यपाल' शब्द के ही अपभ्रंश 'कलवार' शब्द से सिद्ध होता है कि कलवार वास्तव में क्षत्रिय हैं। श्री नारायण चन्द्र साहा की जाति विषयक खोज के अनुसार भी यह सिद्ध होता है कि कलवार उत्तमवर्ग के हैं और वे क्षत्रिय हैं। प्राचीन पञ्चाल प्रदेश की राजधानी कन्नौज में एक वर्ध्यमान नामक जाति रहती थी। इस जाति के लोग क्षत्रिय थे, इनकी पूज्य कुलदेवी वरधनी नाम से प्रसिद्ध थी। आज भी गोवर्धनी देवी के नाम से एक विशाल मंदिर है। कन्नौज नरेश ने इन्हें कालिन्दी नदी की रक्षा का भार सौंप दिया। तट का एक भाग कन्नौज प्रदेश में था, दूसरा अधिकृत प्रदेश में। शत्रुओं से कालिन्दी तट की रक्षा करना ही इसका मुख्य उद्देश्य था। कालिन्दी कूल पर निवास करने के कारण तथा तट की रक्षा करने के कारण ही इनका नाम 'कालिन्दीपाल' हो गया। 'पाल' शब्द से रक्षक का बोध होता है। यह पद क्षत्रियों को ही दिया जाता था। महमूद गजनवी ने कन्नौज पर आक्रमण करते समय जब कालिन्दी को पार करना चाहा तब कालिन्दीपाल जाति ने इसका प्रबल विरोध किया। लेकिन संख्या में कम होने का कारण गजनवी की सेना से लड़ते हुए वे परास्त हो गये। प्राणों के भय के कारण शेष बचे कालिन्दीपाल जंगलों में जा बसे। जीविकोपार्जन के लिए इन्होंने वहीं से अनाज का व्यवसाय आरम्भ कर दिया। कालिन्दीपाल शब्द का अपभ्रंश कलवार है। मि. रिजले के अनुसार 'कलवार' शब्द 'कलवाला' का अपभ्रंश है, जिसका अर्थ कल (मशीन) से काम करने वाला है। इन्होंने कलवारों के मद्य व्यवसायी होने का पूर्ण खण्डन किया है। बियाहुत कुलभूषण पंडित रजनीकान्त शास्त्री और विदेशी विद्वानों ने इस जाति को 'महाजन' कहा है। महाजन वह है जो सूद पर रुपये उधार देता है- संस्कृत में सूद को 'कला' कहते हैं। 'कलापालय नीतिः कलापाल'-- अर्थात जो सूद की रक्षा करे वह कलापाल (कलवार) है। बियाहुत कुलभूषण डॉ. अनन्त प्रसाद शास्त्री ने वैदिक प्रमाणों के आधार पर सिद्ध किया है कि कलवार शब्द वेद के कीलालकार का अपभ्रंश है। वैदिक काल में कीलाल बनाने के कर्म के कारण 'कीलालकार' नाम पड़ा। कीलालकार एक पवित्र वैदिक शब्द है। इसका प्रयोग वेदों में अनेक स्थानों पर है और इसका अर्थ एक दिव्य पेय पदार्थ से है। श्रीकृष्ण व श्रीबलभद्र आदि के साथ सम्बन्ध होने से जन्मना शुद्ध यदुवंशीय क्षत्रिय होकर भी आपत्काल विहित वैश्यवृत्ति धारण कर ली। 'वियाहुत वंशीय महाजन जाति' से सब परिचित हैं। लोग इसके

सदस्यों को बनिज-व्यापार करते देखकर साधारणतः "वियाहत महाजन या वियाहुत वैश्य" कहा करते हैं। इस जाति का आधुनिक निवास बिहार तथा बलिया (उ.प्र.) में है। इस जाति में विवाह के अवसर पर वर और कन्या दोनों के घर विवाह सम्पन्न होने के पूर्व, बलभद्रजी की पूजा होती है जिसे 'बलभद्र मनावन' कहते हैं। जो बलरामजी की इच्छा के विरुद्ध सुभद्रा का विवाह अर्जुन के साथ हो जाने के कारण वे रूठ गये थे और श्री कृष्ण के मनाने पर उनके मान जाने की स्मृति में है।

वियाहुत कलवारों को अन्य वैश्यों की भाँति व्यापारिक बुद्धि वाला माना जाता है। पहले इनका व्यवसाय मदिरा विक्रय था। तुलसीदास ने रामचरितमानस (उ. का. दोहा-99) में लिखा- जे वरनाधम तेलि कुम्हारा, स्वपच, किरात, कोल, कलवारा। रहीम ने लिखा- मदिरा मानत है जगत, दूध कलाली हाथ। प्रामाणिक हिन्दी कोष (रामचन्द्र वर्मा) तथा हिन्दी शब्दार्थ पारिजात में इसे मद्य-विक्रेता लिखा है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी पुस्तक 'मेरी जन्मभूमि' में लिखा है-- "फिर हमारे गाँव में कलवार या प्राचीन 'कल्यपाल' लोगों की बस्ती है, जो एकदम भूल गये कि उनके पूर्वज कभी राजपूत सैनिक थे और सेना के पीछे के हिस्से में रहकर 'कल्यवर्त' या 'कलेऊ' (कलेवा) की रक्षा करते थे। न जाने किस जमाने में इन लोगों ने तराजू पकड़ी थी और अब पूरे 'बनिया' हो गये हैं।" ('मेरी जन्मभूमि'- पृ. 34)। 'राजपूती सेना का वह अंश जो कलेवा की रक्षा करता था, आगे चलकर कलवार के रूप में बदल गया। राजपूतों के कलेवा में मादक द्रव्य भी होता था और आगे चलकर इस मादक द्रव्य ने कलवार की सामाजिक मर्यादा घटा दी।'

कलवार जाति की उपजातियाँ

कल्चूरी वंश (कलवार)-- इसे चेदीवंश भी कहा जाता है। मालवा और उत्तरी महाराष्ट्र में इस वंश का शासन पूर्वकाल में था। दक्षिण भारत में इसे-- 'हैदरवंशी' कहा जाता है। उनके पुत्र कर्णदेव कल्चूरी (सन् 1040-1060) थे। इस वणिक वंश को उत्तर भारत और मिथिला में कलवार या जायसवाल भी कहा जाता है। सुप्रसिद्ध इतिहासकार काशी प्रसाद जायसवाल इसी वंश में उत्पन्न हुए थे।' मध्यप्रदेश में कलवारों के वर्ग ये हैं-- परदेशी, कसारे, राय, गहरवार, दण्डसेन, मालवीय, चौकसे, झरिया, पराठे और सिहोरे। इनमें सिरोह के भी 24 भेद हैं जिनमें, डडोरे, नरवरियाँ, मुखरिया, पवइय, विजोल्य, महरेले, टकसारिश, वजवणिया, सुभट, माली, खंडेलवाल, कटकवार, कहारिया आदि। डॉ. रामशरण प्रसाद के मतानुसार-- वैदिक काल के पश्चात् सूत्रकाल में जाति व्यवस्था बनी। मद्य व्यवसाय वाले हमलोगों के पूर्वज की जाति को कलवार शब्द से संबोधित किया गया है। दवा-दारू शब्द से पता चलता है कि हमारे पूर्वज केमिष्ट एवं ड्रगिष्ट थे।

महुआ गाछ के मीठे फलों से शराब बनाने वाली माहुरी कलवार कहलाये। ये माहौर और माथुर वैश्य भी कहलाते हैं। हाथी की सूँड की शक्लवाले यंत्र से शराब बनाने वाले सूँढ़ी या सूड़ी यानी शौण्डिक कहाए। खत्री (क्षत्रिय) कलवार सूड़ी या सोढ़ी भी लिखते हैं। इनमें भट्टी का काम करने वाले भाटिया भी लिखते हैं। कलार (कलाल) अपने नाम के अन्त में 'कालरा' लिखते हैं। कुछ वैश्य होने के नाते वैश्य उपनाम भी लिखते हैं। खरीद-बिक्री करने वाले खरीदहा कलवार कहलाने लगे। नागपुर, आगरा, अजमेर आदि शहरों में ऋषि-मुनियों को सोमरस पिलाने वाले कलवार 'सोमहरे' कहलाए जो पचास वर्षों से शिवहरे उपनाम लिखते हैं-- कच्छ में कलवार लोग सोलंकी (सौलकखी यानी लाखपहि) कहलाने लगे। राजस्थान में कलवार के अनेक उपवर्ग है। जैन पंथवाले जैन कलारया, जैन-जयसवाल हैं। अन्य कलवार हैं- टिक्कोवाल (टकावल यानी रूपये वाले, टांक (टौंक, टांख,

तनखा), लोहिया (लोहे का सामान बेचने वाले), अग्रवाल (मारवाड़ी कलवार), स्वालक (सुहालक) आदि। राजस्थान के खंडेलवाल, सेठ, लाठ, खेतान आदि कलवार अब गुजरात में बस गए हैं तो क्रमशः खंडेरिया, सेठिया, लाठिया, खेतानी कहलाये। गुजराती कलवार के और उपनाम हैं-- रावल, आचार्य, त्रिवेदी, मंजीठिया, सिंघवी (राजस्थान में सिंघल, सिंगल, सैगल) व मोरारिया आदि। कांसल उपनाम वाले अग्रवाल- कांसारे कलवार हैं। ये सब हैहय क्षत्रिय हैं। पश्चिम बंगाल में सूड़ी, साहा, चौधरी, राय, राय चौधरी आदि उपनाम से कलवार जाति के लोग प्रसिद्ध हैं।

50 वर्षों के अनुसंधान से पता चलता है कि कलवार जाति के तीन बड़े-बड़े टुकड़े हैं--- 1. **पंजाब-** दिल्ली के खत्री कलवार, इनकी शाखायें हैं- मल्होत्रा (मेहरोत्र, मेहरा) सैनी, डुग्गल, सूरी, कोहली आदि। 2. **राजपूताना-** (मारवाड़) के मारवाड़ी कलवार सिंघल, जिन्दल, बंसल, गोयल, मित्तल, कांसल, मांगल, गर्ग, बरनवाल, टांक, टिकीवाल, लोहिया आदि। 3. **देशवाली कलवार-** अहलूवालिया, बाथम, गुलहरे (शिवहरे), माहुरे (माथुर, माहौर, महावर, जैसार, बियाहुत, खरीदहा, जसवार, जायसवाल, शौण्डिक, साहा, गुप्ता, महाजन, कलाल, पटेल, खंडेलवाल, कर्णवाल, अयोध्यावासी, सोमवंशी (चन्द्रवंशी) सूर्यवंशी आदि। कश्मीर के कुछ कलवार परिवार-वर्म्मन तथा कुछ शाही उपनाम धारण किये हुए हैं। बिहार के कुछ जिले जैसे सीतामढ़ी, मुजफ्फरपुर, छपरा, आरा, मधुबनी, वैशाली आदि में कलवार लोग प्रसाद, साह, चौधरी, गुप्ता, सेठ तथा महाजन आदि उपनाम का प्रयोग करते हैं। भागलपुर, पूर्णिया, सहरसा, कटिहार, राँची, छोटानागपुर जिले में भगत कहे जाते हैं। उत्तर प्रदेश के इलाहाबाद, बलिया, बनारस, गोरखपुर एवं बस्ती आदि जिलों में गुप्ता, चौधरी, जायसवाल तथा प्रसाद उपनाम अधिक प्रचलित हैं। नेपाल में अधिकांश लोग अपने नाम के साथ 'कलवार' तथा शाह या साह उपाधियाँ लगाते हैं।

जस्सार, जैसार, जसवार, जैसवार या जायसवाल। ये सब जैसवार वर्ग के स्थान-भेद से विविध नाम हैं। इस वर्ग के सदस्त अब अपने को 'जायसवाल' कहा करते हैं। लोक प्रचलित परम्परा की कथानुसार इस वर्ग की उत्पत्ति 'जासो' या 'जैसिया' नामक माता से हुई है। परन्तु पहले मालूम होता है कि जैसवार नाम परगना 'जैस' से पड़ा है।

जैस (जायस) जो अवध प्रदेश के सालोन जिले में, एक नष्ट हो रहा कस्बा है, सुल्तानपुर से 35 मील पश्चिम और लखनऊ से 55 मील दक्षिण-पूरब की ओर है। बटलर साहब के अनुसार यहां तीन चौथाई मुसलमान हैं।

बनौधिया जैसवार वर्ग का एक उपवर्ग है। किसी समय जैस वर्ग के कुछ सदस्य यहां वाणिज्य-व्यापार के निमित्त जैस नगर छोड़कर बनोधा जा बसे, तब से बनौधिया कहलाए।

खरीदहा यह भी कलवारों को कहा जाता है यह नाम गाजीपुर जिलान्तर्गत एक गाँव के नाम पर हुआ है।

अयोध्यावासी भी जैसवार वर्ग का एक उपवर्ग है।

देसवार शब्द 'जेसवार' या 'जैसवार' का अपभ्रंश है। 'लोग' देस या 'देश' का अर्थ युक्त प्रान्त से करते हैं। इस वर्ग को युक्त प्रान्त से निकलने के कारण ही 'देसवार' कहा जाना मानते हैं।

बाथम इस वर्ग का विकास श्रावस्ती नगर से बताया जाता है। यह नगर बौद्ध काल में कौशल देश की राजधानी थी।

शिवहरे वर्ग स्थान भेद से सौहरे, सिहारे, सिवहरे, शिवरे, सिहोरे आदि नामों से पुकारा जाता है। सोमनाथ, गुजरात, सूरत, अनहलवाड़ा, सिन्ध तथा सूर्पारक आदि स्थानों में सिलाट या सिलहारा राजवंश जो चन्द्रवंश की एक शाखा था, राज्य करता

था। 'शिलहार' शब्द का अपभ्रंश 'शिवहरे' बन गया।

गुड़ेर गुलेर, गोलरे, गुलहरे का अपभ्रंश है गुड़ का व्यवसाय करने के कारण ये 'गुड़ेर' कहलाये। इक्षुपाक नाम का गुड़ है। संस्कृत में इस द्रव्य को 'गुड़' तथा 'गुल' दोनों कहते हैं।

माहौर स्थान भेद से अपने को महुरिया, माहरू, माहुर, माहोर, महावर, माथुर, मथुरिया, महोरे आदि नाम से भी पुकारी जानेवाली सभी जातियों का एक ही स्त्रोत है। 'माहौर' नामक स्थान दिल्ली के पास है, जो इनका उद्‌गम स्थान है।

डोम

डोम जाति एक प्राचीन जाति है और इसका इतिहास अतीत के कुहासों से ढ़का है। डोम जाति दूसरी जातियों की अपेक्षा निम्न मानी जाती है। इसके एक पूर्वज ने सत्ययुग में इक्ष्वाकुवंशी राजा हरिश्चन्द्र को खरीद लिया था। सूअर का पालन तथा बाँस-कर्म से इसकी जीविका चलती है। "शतं वेणुच्छतं शुनः शतं चर्माणि क्लातानि। शतं मे वंशकर्मस्तु अरूषीणा चतुः शतम्।।"--- ('ऋग्वेद, 8/553')।

डोम के चौबीस परगना माने गए हैं, यथा- चौरासी, दरभंगा, राजबिसारा, कसमा, लोजाम, भाला, बछौर, बालागच्छ, गयासपुर, हाटी, पचही, बेसारा, सरैसा, मलकैता, भच्छी, खजभरौरा आदि। इस जाति के अलग-अलग खल्टा (कुल) होते हैं, यथा-- अधलपुरिया, अमलौर, अर्रा, आँहीस, अधारपुर, अभारी, अरैता, कोन लिआर, कसमा, कोठिया, कल्याणपुर, कल्हौली, कानू, कोठियैता, गोरैता, घटैता, घटहों, चोन्हलिआर, चचरबार, चचोली, जढ़अति, जेरूअति, जेरूआ, बेलसंडी, जरूआ-बेसारा, जलालपुरिया, जरूअैत, टमकैत, तिसवार, नागरबस्ती, पुन्सिया, पाँड़, पंचमहला, पूसा, पुनसाहा, फूलसोनपरिया, बेलसरैत, बहेलबारिया, बलगछिया, बरबट्टा, भिड़हा, भतबरिया, भईसिंधारा, मड़ैवाड़, मगहिया, मनकैत, महुअँत, मलाकी, मधुपुरिया, रोसमैत, ललवार, लरहेन, लाघा, लालागच्छ, सोनपुर, हसैत, हावर, हाँसा आदि। इसमें 'तिरहुतिया'डोम 'पछिमा' से विवाह-संबंध वर्जित मानते हैं। डोम का जाति-संगठन 'जवार', 'चटाई' तथा 'सभैती' कहलाता है। डोम की जातीय पंचायत में ये लोग विवाद का फैसला करके ही भोजन करते हैं-- भले ही रात बीत कर बिहान हो जाये। दारू और मांस-भात पर इस जाति को विशेष आकर्षण होता है। डोम जाति धनबटी, परीच्छन, विवाह का डाला-हारा, मटकोर आदि की बाँस-वस्तु बनाकर सामाजिक कर्मों में महत्वपूर्ण अंग बनते हैं। इस जाति की अनेक उपाधियों में 'मलिक' और 'मरीक' भी है। डोम के कुल-देव-देवियों में कालीबन्दी, बल्ली, गौरैया, गहील, सहोदरा, छेछना, डीहबार आदि हैं। मिथिला में इस जाति को 'पौनिया-पसारी' भी कहा जाता है।

चम्पारण के मगहिया डोम : बिहार प्रान्त के पश्चिमी चम्पारण में मगहिया डोम करीब दो-तीन सौ परिवार निवास करते हैं। ये लोग आल्हा-गायन और कृषि-कार्य करते हैं। इस जाति के अधिकांश लोग घूमंतु जीवन बिताते हैं। इनकी प्रवृत्ति प्रचंड होती है। शायद दमन के आतंक से ये लोग जंगली क्षेत्रों में शरण्य हुए थे। अंग्रेजी काल में निलहे कारखानों में स्थायी जीविका के लिए इनके इस क्षेत्र में आने की संभावना भी नकारी नहीं जा सकती।

एक रूसी शोधकर्त्ता एम.जे. कोनाविन के अनुसार रूस में जिप्सियों (रोमाओं) ने ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु, लक्ष्मी और पृथ्वी की कथाओं को अक्षुण्ण बनाए रखा है। पृथ्वी देवी को वे 'माता' कहते हैं। चिकित्सक कोनाविन ने 123 जिप्सी कथाएँ, 80 पौराणिक परम्पराएँ और 62 जिप्सी लोकगीत संकलित किए थे।

अपने विश्व भ्रमण में सन् 1970 ई. में स्वीडन में अनेक रोमाओं या जिप्सियों को देखा, वे धनी हैं, खुशहाल हैं और इन रोमाओं के पास नई-नई बेशकिमती गाड़ियाँ हैं। रोमाओं को विश्व में यायावर

कहा जाता है। साहित्य-अमृत के अक्टूबर-2005 के अंक में प्रकाशित-- "डोम" जाति के प्रति मान्यता को प्रस्तुत किया जाये तो डोम को अपमानजनक मानने की भावना ही समाप्त हो जाती है। बंगाल की डोम जाति और मध्यप्रदेश के कंजर, बेरिया में पारस्परिक संबन्ध हैं। डोम, कंजर, बेरिया ही यूरोप के जिप्सी हैं। डोम से रोम और रोमा की व्युत्पत्ति है। रोमा समुदाय की प्रकृति को 'रोमांस' शब्द व्यक्त करता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के उपरोक्त कथन के समर्थन में कुसुम बंसल का "कादम्बिनी", जनवरी, 1992 में प्रकाशिक आलेख "चेकोस्लोवाकिया के रोमा" को प्रस्तुत किया जा सकता है जिसमें भारत की डोम जाति का संबंध चेकोस्लोवाकिया के रोमा से बतलाया गया है तथा उनकी भाषा का सम्बन्ध राजस्थानी भाषा से बतलाया गया है। उनकी भाषा में "ट" वर्ण नहीं है जिससे आटा-आरो, पेट-पेर कहा जाता है। इस वजह से संभवतः भारत के डोम वहाँ रोमा बन गये। बंसल अपने आलेख में कहती हैं --"भाषाविद् टर्नर ने यह खोज निकाला कि इन रोमा लोगों की भाषा राजस्थानी भाषा के सर्वाधिक निकट है। भारत में वे कौन लोग थे, किस जाति के थे, इस विषय में अभी तक दावे से कुछ नहीं कहा जा सकता किन्तु यह स्पष्ट है कि वे राजस्थान की डोम जाति के लोग थे (पृष्ठ--35)।

मुझे हंगरी में अभियांत्रिकी की उच्च शिक्षा हेतु लंबे समय (सन् 1968-1977 तक) प्रवास करने का शुभ अवसर प्राप्त हो चुका है। इससे अध्ययन-अनुसंधान करने का मौका प्राप्त हुआ। रोमाओं को हंगेरियन भाषा में 'सिधान्य' कहते हैं। रोमाओं का प्रवसन यहां एक बार में ही नहीं हो गया। वे एक के बाद एक कई समूहों में गये। वे समूह छोटे-छोटे थे। अक्सर इनमें एक परिवार या एक वंश के लोग होते थे। यह नहीं कहा जा सकता कि यह प्रक्रिया अब बन्द हो गयी है। चेकोस्लोवाकिया में प्रायः रोमाओं को हंगेरियाई बोलते हुए पाते हैं। वे वहाँ द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद पड़ोसी देश हंगरी से गये थे, युद्ध में चेकोस्लोवाकिया के जिप्सियों का जर्मनों ने विनाश किया था। यह कोई नहीं जानता कि आज वे किस प्रकार एक देश से दूसरे देश में घूमते फिरते हैं जबकि आज-कल देशों की सीमाएँ स्पष्ट रूप से अंकित हैं और उन पर कड़ा पहरा रहता है।

डोम जाति के लोकदेव-छेछना डोम : डोम जाति का एक प्रसिद्ध लोकदेव का नेपाल के धौलागिरि पर्वतीय जंगल में 13वीं सदी जन्म हुआ था। कुछ लोग इसे धांगड़ जाति (डोम के ही-समकक्ष एक जाति) का मानते हैं। विशाल शरीर और अतुल शक्ति का यह अभिमानी किसी की परवाह नहीं करता था। इसका कट्टा (एक हथियार) 12 पसेरी (लगभग 60 किलोग्राम) लोहे का था। इस कर्मवीर छेछना की मृत्यु कृष्णाराम के हाथी द्वारा हुई थी। सप्तरी (नेपाल के पूर्वी भाग का जिला) के प्रसिद्ध पुरुषार्थी कृष्णाराम का सात कोठी बाँस इसने बिना पूछे काट लिया था। तब कृष्णाराम और उसके भाई सुवरन हाथी पर चढ़कर उससे लड़ने चले। हाथी पर महावत के बदले उनका भगिना मोगल महौथिया था। जिस समय कृष्णाराम का हाथी पहुंचा छेछना कटे बाँस पर सिर और सिरहाने में कट्टा रखकर सो रहा था। कृष्णाराम के कहने पर हाथी ने उसी का कत्ता खींचकर उसकी गर्दन के नीचे खड़ाकर दिया और ऊपर से अपना पैर उसकी गर्दन पर देकर दबाया जिससे छेछना का सिर कट गया। उसके मरणास्थल मोहाली खोला (सप्तरी, नेपाल) में उसकी समाधि बनी और वह लोकदेव बनकर पूजा जाने लगा। डोम जाति में उसकी (दुहाई) चलती है। उसकी पूजा में दारू और गाजा-भांग चढ़ता है।

श्यामसिंह 'डोम' : जननायक श्यामसिंह 'डोम' का जन्म सिंधिया, (दरभंगा, बिहार) नामक ग्राम में हुआ था। हिरनी-देवधा में हीरामाल और बहरूमाल नामक दो डोम सरदार रहते थे। एक दिन उनके

गहील गह्वर में एक अन्जान बच्चा उन दोनों सरदारों को मिला। बाद में पता चला कि यह बच्चा किसी क्षत्रिय का है। हीरा और बहरू ने उस बच्चा का नाम श्यामसिंह 'डोम' रखा और पालने-पोसने लगे। आगे चलकर वह बच्चा देवांशी और दिव्यपुरुषार्थी निकला। बाद में श्यामसिंह 'डोम' इकबाली होने के कारण डोम जाति में लोकपूज्य हुए। उनके चार पुत्र थे-- 1. जीतन मरीक (गोरपार, कंचनपुर- नेपाल) 2. मनन मरीक (गोरपार , कंचनपुर, नेपाल), 3. जोदपैंत मरीक (भंगहा कठौना, नेपाल), 4. भिखारी मरीक (बनगामा, निर्मली स्टेशन से दक्षिण) श्यामसिंह 'डोम' डोम जाति के लोकदेव हैं। उनका शारीरिक बल प्रसिद्ध था। एक बार उनसे कुश्ती लड़ने को माटी देवधा निवासी वंशीधर (ब्राह्मण खलीफा) चुनौती ने भेजी। श्यामसिंह 'डोम' ने गाँजा की ताबड़तोड़ चिलम पीकर कुश्ती के बदान (अखाड़ा) में लंगोटा चढ़ा लिया। सात कोस के अखाड़े में दोनों की कुश्ती हुई। अंत में श्यामसिंह 'डोम' की जीत हुई। इनके जीवन की अनेक अलौकिक घटनाएँ डोम जाति में श्रद्धा की केन्द्र है। सिंधियाँ थाना (दरभंगा, बिहार) के देवधा ग्राम में श्यामसिंह 'डोम' का प्रसिद्ध गहवट है, जिसे डोम जाति के लोग अपना तीर्थस्थल मानकर उसकी पूजा किया करते हैं।

किरात : हिमप्रदेश के अति प्राचीन जातियों में किरात, खश, यवन, दरद, शक, कम्बोज आदि जातियों के संसार-लोप के कारण मनु ने उन्हें 'वृषल जाति' की श्रेणी में स्थान दिये हैं। कौटिल्य ने मनुस्मृति का दिग्दर्शन कराते हुए किरात, बामन, कुब्ज एवं मूक आदि जाति को एक स्थान पर प्रतिष्ठित किये हैं। विष्णुपुराण के उल्लेखानुसार इस जाति का मूल निवास स्थान हिमालय के दक्षिण-पूर्वी खण्ड में होना बताया गया है। मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम के समय में गोस्वामी तुलसी दास जी के अनुसार "आभीर, जमन (ममन), किरात, खस, स्वपचादि अति रूपजे" के अनुसार भारत के अन्य भागों में भी होने का प्रमाण है। निर्विवाद है कि प्राचीन आर्यों जाति के किरात जाति भारत के उत्तर-पूर्व में सुव्यवस्थित रूप से शासन करती थी और यह भी निर्विवाद है कि इनका निकटतर संबंध मात्र ही आर्य के साथ नहीं था, बल्कि आर्य जाति के त्रिदेवों के शिव स्वरूप 'किरातेश्वर' का विशेष महत्त्व महाभारत-काल में था, जिन्होंने धनुर्विद्या में पारंगत अर्जुन को पाशुपत्य प्रदान किया था। इनकी वीरता एवं समर प्रियता इस बात की साक्षी है कि इनकी धमनियों में क्षत्रिय-रक्त विद्यमान है जैसे पूर्वकाल में भी थी। किरात सिर्फ युद्ध-प्रिय ही नहीं थे, किन्तु उनके अन्दर बड़े-बड़े विद्वानों में यशोधन वीर जैसा भी विद्वान था। किरात जाति पूर्वकाल से ही भारतीय संस्कृति की रक्षा करती आ रही है। इनकी शस्त्रकुशलता एवं कार्य पटुता पर धर्मराज युधिष्ठिर को भी गर्व था। इनकी नीति कुशलता का प्रमाण तो इसी बात से मिल जाता है कि धर्मराज युधिष्ठिर ने एक किरात को ही गुप्तचर बनाकर दुर्योधन जैसे कुशल नीतिज्ञ का मर्म भेद लेने के लिए भेज था। गुप्तचर किरात ब्रह्मचारी के वेश में गया था। किरात की आकृति भी हस्तिनापुर के क्षत्रिय लोगों के ही समान थी। गुप्तचर संस्कृत का बेजोड़ विद्वान था। इससे स्पष्ट पता चलता है कि किरातों के पूर्वज सभ्य थे और वे क्षत्रिय जाति के ही थे। कवि कुल तिलक भारवी के 'किराताजुर्नीय' काव्य की चर्चायें तथा महाकवि कालिदास का आख्यान किरात जाति के लिए विशेष महत्त्व स्थान रखता है।

महाभारत काल में किरातों का राज्य विस्तार दूर तक फैला हुआ था। महाभारत के भीष्म पर्व के अन्तर्गत वर्णित विभिन्न जातियों के उल्लेख में किरात जाति का नाम पता लगता है कि शीर्षस्थानीय योद्धाओं में किरात राजा जीतेन्द्रष्टि भी एक थे। किरातों के शक्ति एवं भक्ति पर पाण्डवों को गर्व के साथ पूर्ण विश्वास था। इसी कारण युधिष्ठिर की

छत्रछाया में विशाल भारतीय सैन्य वाहिनी दल में वीर सैनिकों एवं राजनीतिज्ञों में किरात भी प्रधान रूप से थे। किरातों के पूर्वजों ने अनेक प्रदेशों में स्वतंत्र राज्य स्थापित किया था, जिसका उल्लेख पूर्वी बंगाल के टिपरा राजवंश के 'राज माला' वृतान्त के अन्तर्गत मिलता है। टिपरा आधुनिक नाम त्रिपुरा का प्राचीन नाम भी किरात से ही मिलता है।

अंग्रेज लेखक मेजर फिशले तथा कर्नल डाल्टन ने तो त्रिपुरा राजवंश को काचारी वंश कहा है और दूसरे ने किरात जाति के साथ जोड़ दिया है। नेपाल के प्रसिद्ध विद्वान लेखक श्री बालचन्द शर्मा के कथानुसार किरातों का निवास स्थान उत्तर-पूर्वी सीमान्त एवं असम घाटी ही थी। श्री पं. मुरलीधर भट्टराई नेपाली विद्वान ने किरातों को बलोच्च प्रमाणित करते हुए लिखा है कि 'महाभारत के युद्ध के बाद कई किरातों ने युद्ध से जर्जर महाभारत को धर्मराज (युधिष्ठिर) के एक छत्र के नीचे लाने का सफल प्रयास किया था। युधिष्ठिर की छत्रछाया में विशाल भारतीय साम्राज्य की स्थापना के लिए सहयोग देने वाले वीर सैनिकों और राजनीतिज्ञों में किरात भी थे। उस समय विशाल भारत में बेलोचिस्तान भी आता था। किरात लोग बड़े बलवाल होते थे। इसलिए बलोच्च भी कहलाते थे। बलोच्च का अर्थ बल में उच्च होता है। बलोचिस्तान जिसे आजकल बिलोचिस्तान कहते हैं, उन्हीं का ही बसाया हुआ है। किरातों का बसाया होने से केलात नामक का नगर हमारे किरातों की वीरता का स्मरण दिलाता है। यह केलात नाम का नगर बिलोचिस्तान है।' सम्प्रति नेपाल में किरात जाति के लोग काठमाण्डू से पूर्वीय भाग में आबाद है। ये जातियाँ आज दो श्रेणियों में विभाजित हैः--- "राई एवं लिम्बू।" इन दोनों के अतिरिक्त इनकी और भी श्रेणियाँ हैं।

आज नेपाल में किरात जातियाँ कोसी नदी के पूर्वी तट से कंचनचंगा पर्वत, महानन्द नदी (महानन्द), बिजापुर क्षेत्र, मगमा, राबुलगंज और मांझ तक फैली हुई है। यहाँ के किराती एवं लिम्बू (याकथम्बा) लोग परम साहसी, हठकर्मी तथा क्रोधी स्वाभाव के होते हैं। लिम्बू (याकथम्बा) लोग अपने को 'काशी गोत्रीय' कहते हैं। यद्यपि ये लोग आज दिन हिमालय के हयदस्थल एवं पीठ पर निवास करते हैं, फिर भी इनको यह कहने में गर्व होता है कि हम लोग शंकर-नगरी-काशी से संबंधित हैं। यहाँ का स्मरण रखना आवश्यक है कि नेपाल के राजवंश के वंशावली के अनुसार सर्वप्रथम यलम्बर नामक किरात राजा काठमाण्डू उपत्यका में अपना शासन कायम किया था, जिस कारण समकालीन 'कश्यपगोत्रीय' आर्य हिन्दू कश्मीर में निवास करते थे और उस समय कश्मीर एवं नेपाल के निकटत्तर सम्बन्ध था। इसके अतिरिक्त किरात जाति के लोग पूर्वकाल से ही आर्य जाति के साथ घुलमिल गये थे। इस कारण किरात जाति ने 'कश्यप-गोत्र' का अपभ्रंश स्वरूप 'काशी-गोत्र' ही शंकर की नगरी काशी को ही अपने गोत्र के रूप में अपना लिया हो यह बहुत सम्भव है। जो भी हो, ये वैदिक धर्म एवं भारतीय संस्कृति के कट्टर पोषक हैं। ये लम्बी-लम्बी शिखायें रखते हैं। अब तो कोई-कोई किराती यज्ञोपवीत भी धारण करने लग गये हैं। मनु ने उपनयन कर्म लोप के कारण ही उन्हें 'वृषल' जाति में रखा है।

उदार किराती स्युंग राजा के समय में प्रियवर्शी साम्राट अशोक नेपाल (काठमाण्डू) में आये थे। ललितपुर (पाटन) पर अधिकार करके आपने बौद्ध धर्म का प्रचार करना आरम्भ किया था। उस समय अशोक पुत्री चारूमति, जिसका विवाह पाटन के राजा देवपाल के साथ हुआ था, ने बौद्धधर्म की ओर नेपाल एवं तिब्बत को आकृष्ट किया और राजा स्युंग ने साम्राट अशोक के कान्तिपुर (नेपाल) आगमन पर भव्य स्वागत किया था तथा बौद्ध धर्म के प्रचार में भाँति का सहयोग प्रदान किया था। बहुत से

इतिहासकारों का किरातों के सम्बन्ध में यह कहना है कि किरात जाति अनार्य संस्कृति की थी, जो कालान्तर में पूर्ण हिन्दू आचार-विचार में पालित होने के नाते आर्य-संस्कृति एवं विचारों में परिवर्तित हो गयी। यों किरातों के विभिन्न उपजातियों के बोलचाल में भौगोलिक स्थिति के कारण सामंजस्य नहीं है, किन्तु कियती भाषा संस्कृत भाषा से दूर चले जाने पर भी शैली में शब्दों का सामंजस्य देखने को मिलती है। नेपाल की पुरानी जातियों में किरात जाति का स्थान सर्वोपरि है। नेपाल के आदि निवासी किरात ही थे। इनपर बौद्धों और शैवों का भी काफी प्रभाव है। फलतः वृक्ष, भूत-प्रेत और शिला की ये लोग पूजा करते और भक्ष्य-अभक्ष्य आहार करते हैं। ये लोग मंगोल जाति से मिलते-जुलते हैं। किरातों का दूसरा नाम 'बारमोम्बा' भी है। ये लोग अच्छे शिकारी भी होते हैं। इनके देह-हाथ बड़े मजबूत होते हैं।'

भारत में हर्यककुल, शिशुनागवंश, नन्दवंश, मौर्यवंश, शुंगवंश, (मित्र), कण्ववंश एवं आन्ध्रवंश का राज्यकाल बहुत दिनों तक रहा। उसी के सामानान्तर नेपाल में सात-सौ वर्षों तक किराती वंशीय क्षत्रियों का राज्य था। अशोक ने धर्मचन्द्र-विजय-काल में नेपाल के शासक किरात वंशीय राजा स्थ्युंक थे। बौद्धधर्म की अनुश्रुतियों में सम्राट अशोक ने अपनी कन्या चारूमति एवं जमाता देवमाल के साथ नेपाल जाकर वहाँ अनेक बिहार एवं बौद्ध-स्तूप बनवाये थे।

गोरखा, गुरूंग, शेरपा और तामंग

नेपाल की प्रसिद्ध जातियों में गोरखा का नाम बहुत पहले आता है। कहा जाता है कि ये मूलतः राजपूत हैं और मुसलमानों के आक्रमण के कारण राजपूताना से चलकर आये थे। सबसे पहले ये लोग पाल्या में टिके, फिर कुमायूँ की पहाड़ियों को लांघकर गोरखा तक बढ़ आये। तदन्तर इन लोगों ने नेपाल पर विजय प्राप्त की और तब से ही सत्तारूढ़ हैं। इन लोगों का मुख्य स्थान काठमाण्डू है परन्तु नेपाल के अन्य भागों में भी ये फैले हुए हैं। ये लोग लम्बें-छरहरे और भारतीयों से रंग-रूप वाले हैं और देखने में बड़े सुन्दर होते हैं। यह जाति मुख्यतः और मूलतः सैनिक हैं और सेना में इन्हीं लोगों की प्रधानता है। वीर-सैनिकों रूप में सारे संसार में इनका मान है। गोरखों के संबंध में प्रसिद्ध है कि काठमाण्डू से लगभग पचास मील पश्चिम में 'गोरखा' नामक स्थान किसी समय बड़ा ही समृद्ध और शक्तिशाली था। गोरखे वहीं के निवासी हैं। यह भी कहा जाता है कि शैवमत के प्रचारक गुरू गोरखनाथ वहीं रहते थे और उन्हीं के आधार पर वहाँ के रहने वाले गोरखे कहे जाने लगे। यह जाति हिन्दुओं की ही एक शाखा है। ये लोग अपनी ही जाति में विवाह करते हैं। गोरखा जाति में ब्राह्मणों के अलावे ठकुरी और खस जाति के क्षत्रिय भी सम्मिलित हैं। इनकी भी शाह, सेन, मल्ल, पांडे, थापा, बस्नेत आदि कई उपजातियाँ और उपाधियाँ है। तामांग, मगर और गुरूंग भी गोरखा जाति के ही अन्तर्गत हैं। किन्तु लन्दन से प्रकाशित एक अंग्रेजी-पुस्तक के अनुसार विशुद्ध गोरखा जाति में ठकुरी, क्षत्रिय, गुरूंग, मगर, राई, लिम्बू, सुनवार तथा तामांग सम्मिलित है। गोरखाओं की भाषा गोरखाली है। यह देवनागरी लिपि में लिखी जाती है। आजकल यही नेपाल की राजभाषा है और इसे लोग नेपाली भाषा कहते हैं। 'गोरखा' शब्द का प्रचलन लगभग बारहवीं शताब्दी में हुआ। आभूषण नेपाली स्त्रियों के बीच खूब प्रचलित हैं। आभूषण के रूप में फूलों का खूब प्रचलन है।

गोरखा जाति में वैवाहिक कठोरता है। वे लोग अपनी ही जाति में विवाह करते हैं और इस प्रकार अपना रक्त शुद्ध रखने पर गर्व करते हैं। विवाह में वर-पक्ष की ओर से कन्या को सोने की चूडियाँ और अँगूठी देने की प्रथा है। इस जाति में यदि किसी युवक-युवती में प्रेम हो जाये और वह युवक-युवती को अपने साथ ले जाये तो वे दोनों तभी युवती के घर

जाते हैं जब ससुर उन्हें आमंत्रित करें। युवती का पिता जब उन्हें दही और अक्षत का टीका लगा देता है, तभी वे दोनों पति-पत्नी समझे जाते हैं। गोरखा जाति में इसे 'धोक-दिन्नु' कहा जाता है। मगर और गुरूंग जाति में विवाह हिन्दू-पद्धति से होता है। वे लोग विवाह को 'फेरा' (सप्तपदी) कहते हैं। अपने यहाँ 'गठ-बंधन' की तरह उनेक यहाँ 'अंचल-गांठ' है। उनके यहाँ तलाक की भी प्रथा है। तलाक के लिए पति-पत्नी दोनों की स्वीकृति अनिवार्य है। उनके यहाँ विधवा-विवाह की मनाही है।

गोरखाओं के यहाँ भूत-प्रेत और जादू-टोना में भी पूरा विश्वास है। देवी-देवताओं की वे लोग मनौती करते हैं और मुर्गा-मुर्गी की बलि चढ़ाते हैं। भूत-प्रेत और जादू-टोना से अच्छा करने के लिए नेपाली लोग भी ओझा का सहारा लेते हैं जिन्हें 'बिझुवा' 'झाँकी' या 'धामी' कहते हैं। सावन में विवाह करना शुभ नहीं समझा जाता। तीन की संख्या नेपाली लोग अशुभ मानते हैं।

गुरूंग जाति : गुरूंग जाति के लोग मगर जाति के निवास के ऊपरी भाग में अर्थात हिमालय के बर्फीली खण्ड के समस्त पर्वतीय क्षेत्र में निवास करते हैं। ये मध्य नेपाल एवं उत्तराखण्ड के दामोदरकुण्ड, ढुंगलांग, पगलिंग तथा मुक्तिक्षेत्र के दक्षिण भाग एवं नुवाकोट से काठमाण्डू तक फैले हुए हैं। तिब्बती क्षेत्र के सन्निकट होने के नाते इनमें तिब्बतीयन का बहुतायत है। इनकी भाषा एवं बोलचाल में भी तिब्बतीपन है। गुरूंग जाति की प्राचीन अनुश्रुतियाँ प्राप्त नहीं है, किन्तु भारतीय क्षेत्र से सवर्ण जातियों के नेपाल में प्रवेश के समय पूर्वीय गंडकी भू-भाग में इनका प्रभुत्व था। गुरूंग जाति प्रधान रूप में दो उपजातियों में विभक्त है, जिनमें एक का नाम 'चारजात' एवं दूसरे का नाम 'सोहताज़' है। इनका सम्पर्क सवर्ण जातियाँ के साथ होने के कारण नेपाली भाषा का ही व्यवहार करते हैं। नेपाल के अन्य क्षेत्रों में गुरूंग लोगों की बोली तिब्बती भाषा के सन्निकट है।

गुरूंग लोग पराक्रमी, साहसी, न्यायप्रिय एवं सरल स्वभाव के होते हुए भी हठी स्वभाव के होते हैं। इनके पुरोहितों में देवपूजनादि के लिए ब्राह्मण तथा पितृ कार्य के लिए इनकी जाति के लामा एवं ब्रह्माण दोनों ही होते हैं। अधिकतर गुरूंग जाति शैवमतानुयायी होते हुए भी तांत्रिक एवं बौद्ध मतानुयायी समिश्रित है।

ये लोक-गीत के प्रेमी एवं नृत्यकला प्रदर्शन के सदा चाहने वाले होते हैं। इनकी जाति में 'मारूनी' नृत्य नेपाल में प्रसिद्ध है। नृत्य प्रायः मूर्तियों के समक्ष ही होता है। यह जाति युद्ध प्रिय है अतः 'मारू' अर्थात् 'मारूनी' नृत्य को अंगीकार किया है। इनकी आजीविका कृषि एवं पशुपालन है मगर समय की लम्बी दौड़ में शन्नैः-शन्नैः सरकारी सेवाओं लगने लगे हैं।

शेरपा जाति : शेरपा जाति के लोग हिमालय के पूर्वीभाग की निचली पट्टी में रहते हैं। ये पशुओं में चमरी एवं भेड़ों का पालन करते हैं तथा इनके ही घी एवं ऊन आदि का व्यापार करते हैं। इनकी ही जाति के शेरपा पुजारी नेपाल प्रसिद्ध गोसाईस्थान मंदिर के पुजारी हैं। ये हाथ में त्रिशूल धारण कर शिव स्तोत्र का पाठ करते हैं। इसी प्रकार पश्चिमी नेपाल के टुपचेखर शिव स्थान में बहुत बड़ा मेला लगता है। मेले में शिव के समय रात्रि में शेरपा एवं तामंग जाति के लोग दीप जलाकर पूजन करते हैं। ये लोग मिट्टी को शिव मूर्ति बनाकर पूजन करते हैं। इसे वे 'तोर्मा' अर्थात् देवता पूजन कहते हैं। ये शैव एवं बौद्ध मतानुयायी हैं। इनके पुरोहित लामा एवं ब्राह्मण दोनों ही है। इनके धर्म ग्रंथ का नाम 'शिववेद' है।

तामंग जाति : नेपाल उपत्यका के चतुर्दिक तामंग जाति की बस्तियाँ आबाद हैं। ये सगोत्र में आर्यों की भाँति वैवाहिक सम्बन्ध नहीं करते। इनका गोत्र भी आर्य ऋषियों के नाम से ही हैं। भोटिया जातियों में तामंग सर्वोच्च जाति में मानी जाती है।

इनकी उपजातियों स्यांगतान् मोकतान् तिगंछूगंरूम्या, निदुँकी आदि है। इनके अन्दर भी छूआछूत का भूत है। तामंग अपने को शंकर की प्यारी संतान कहते हैं। वास्तव में ये नन्दीजनों में हैं। ये भक्ति एवं विनय के साथ शिव की आराधना तथा बुद्ध की अर्चना करते हैं। शेरपा तथा तामंग की भाषाएँ अलग-अलग है। किन्तु दोनों की भाषाओं में प्राकृतिक वाङ्गमय का सामंजस्य है।

मल्लाह, मुसहर और माली

नेपाल या भारत में 'मल्लाह' या निषाद एक मत्स्यजीवी जाति है। "अग्नि पुराण" के अनुसार जिस समय राजा बेन की जाँघ मथी गयी थी उसमें काले रंग का एक छोटा मनुष्य निकला। वही निषाद वंश का आदि पुरूष थे। नाव चलाना और मछली मारना यही इस जाति का पेशा रहा है।

इस जाति की उपशाखाओं में बिन्द, बाँतर, बनपर, सौरहिया, तीअर, नोनफर, गाढ़ी, खुनौट, पछिया, चाम, केवट, कोल्ह, कठौतियाँ, जेठौतिया, करकट, खरकौट आदि है। इस जाति की उपाधियों में माझी, मुखिया, सिंह, चौधरी, मंडल आदि होती हैं। लोकदेवों में नटुया दयाल सिंह, अमर सिंह, केवल महाराज, गांगों देवी, जय मल्लाह (जयसिंह), शम्मन मड़र, ढ़ीढ़ामल, ठीठमल, बैहरू तीअर, झालारा, रैय्याणापाल, सुल्तान खाँ, कुसिया रमणा, मातैर दैवी आदि प्रसिद्ध हैं।

मल्लाह या निषाद जाति चारों युगों में - 1. सतयुग में भक्त राज कालू राम जी निषाद जो निरन्तर निःस्वार्थ भावना से युक्त है। इसी युग में स्वामी रामदासजी निषाद जो कि लरियावंश के उद्गाता रहें। भगवत-भजन में सदा लीन रहते थे। **2.** त्रेतायुग में-- भक्तराज गुहा निषाद जो श्रृंगवेरपुर के जंगलों में बसने वाले केवट एवं अन्य जाति आदिवासियों के राजा थे। **3.** द्वापरयुग में--- महाभारत काल में निषाद राजा के राजघराने में 'हिरण्यगर्भ' नामक एक राजा हुए। इसी वंश में दास राज निषाद (केवट) हुए जो कि वंशानुक्रमणिका में यशस्वी कार्यों के प्रतीक हुए। **4.** कलियुग में-- स्वामी मोहनदास जी निषाद भागवत-भजन करने के साथ मछली मारने के अपेक्षा अहिंसात्मक धंधा की ओर प्रेरित करते रहे। इस युग में भक्त रघु निषाद (केवट) भगवत-भक्ति में तल्लीन रहते थे। ऐसे युग पुरूष जिन्होंने मल्लाह या केवट अर्थात् निषाद समाज को गौरवान्वित किया है।

दिव्यलोकदेव : नटुया दयाल सिंह - इस दिव्य लोकदेव का नाच नेपाल के पूर्वी भाग मिथिलांचन में विशेष प्रसिद्ध है। इसे दुलरा-दयाल नाम से ग्रामीण लोक गीत बनाकर इनकी जीवनगाथा गाते हैं। ये भरोड़ (दरभंगा, बिहार) निवासी मलसम्मर सिंह के पुत्र थे। इनकी माता का नाम गजमोती तथा पत्नी का नाम अमरौटी देवी था। दयाल सिंह का विवाह सलौन (खगड़िया-बिहार) निवासी दुखरन सहनी की पुत्री से हुआ था। दयाल सिंह की सास बहुरा गोंढ़िन और साला मानिकचन्द्र था। दयाल सिंह की शादी में सात सौ लोग बरियात में बखरी गाँव पहुँचे तो उनकी सास और सरहज ने दयाल सिंह की परीक्षा लेने सात सौ बरियात को मन्तर से गायब कर दिया। तब बरातियों को जिलाने के लिए विवाह के बाद दयाल सिंह कामरूक-कामाच्छा पहुँचकर सावर मन्तर सीख कर बखरी लौट आया और अपनी हककल डायन सास बहुरा गोढ़िन से बदला लेकर अपनी बरातियों को जिलाया। अन्त में वह अपनी पत्नी का गौना (दूरागमन) कराकर भरौड़ा गाँव वापस हुआ।

गांगों देवी : मल्लाह जाति की प्रसिद्ध लोक देवी हैं। मछहैर करने से पूर्व यदि कोई गांगों देवी की पूजा करता है, तो उस दिन उस मछुए को खूब माछ (मछली) फँसती है। उसकी जलुकरी पूजा आरम्भ होने की एक कथा है--

'एक दिन गांगों के ससुर, भैंसूर और स्वामी मछली मारने गये। दिन से दिन ढ़ल गया पर घोंघा-सितुआ (सीप) छोड़कर कुछ भी नहीं मिला, तो

गांगों के स्वामी ने अपनी धर्मपत्नी का नाम सुमरन कर (स्मरण कर) जब जाल फेंकना शुरू किया तो मन के मन (चालीस किलों) माछ (मछलियाँ) जाल में फंसने लगी। इस चमत्कार का रहस्य जानकर गांगों के ससुर-भैंसुर और परोपट्टा के (पड़ोसी-गण) मछुआ-मल्लाह लोग गांगों की महिमा से परिचित होकर बेरागत-बेरागत पूजा देने लगे और तब से गांगों पुजमन्ती देवी बनकर तिरीया-गोहाट, गाय-गोहाट और बालक-गोहाट में लोक-कल्याण की वाक्-ख्यात देने लगी। उसके 'भागता' लोग उनकी पूजा बड़ी श्रद्धा से करने लगे।

लोकदेव : केवल मल्लाह -- इनबारा ग्राम में केवल मल्लाह का जन्म हुआ था। उनकी माता का नाम जमुनी देवी था और पत्नी का सोनधनियाँ। केवल बचपन से ही बलवन्ता और देवांशी था। उसकी धाक दूर-दूर तक फैल चुकी थी। उनका डिहबार रघुनाथ भूंइयाँ तथा दोस्त देवकी सहनी था। उसी समय मल्लाह जाति को लोक देव अमर सिंह मलाहों के पुजयन्ता हो चुके थे। उनके केवल महाराज की चलती-बनती से ईर्ष्या थी। उन्होंने केवल को मरवाने के लिए और षड्यंत्र किया, जिसमें केवल के डिहबार रघुनाथ सिंह भूँइयाँ और यार देवकी सहनी के सहयोग का शर्त कराकर वचन मिल गया। अमर सिंह ने केवल को सोये में स्वप्न दिया कि खमैटीन नीद में माछ(मछली) का उजैहिया चढ़ा है, रहुआ-धुआर की कोई कमी नहीं है।

मुसहर जाति : मुसहर जाति की आर्थिक स्थित अन्य जातियों की अपेक्षा काफी पिछड़ी है। इस जाति के लोग खास कर नेपाल की तराई क्षेत्रों में निवास करते हैं और कृषि कार्य के साथ यंत्र-तंत्र अपनी रोजी-रोटी हेतु भटकते रहते हैं।

माली जाति : माली जाति को कहीं-कहीं 'मालाकार' कहते हैं। यह जाति आज भी आर्थिक और शैक्षणिक रूप से काफी पीछड़ी है। तराई क्षेत्र में इनकी अल्प संख्या मिलती है। ये लोग धार्मिक यज्ञ-अनुष्ठानों पर फूल-मालायें लाकर देते हैं और उन्हें चावल, रुपये प्राप्त होता है।

मगर, भोटिया, लिम्बू और राई

मगर जाति के प्राचीन अनुश्रुति विशेष रूप से उपलब्ध नहीं है। मध्य युग में जब भारतीय जातियों का प्रवेश नेपाल में हुआ तो उस समय मगर जाति के लोग मध्य पश्चिमांचल क्षेत्र में एक विस्तृत भाग में निवास करते थे। इसका उस समय मुख्य निवास स्थान हिमालय के मध्य अर्थात महाभारत नामक पर्वतीय क्षेत्र में था। सामाजिक रीति-रिवाज भी पूर्णरूप से हिन्दू रीति-रिवाज के अनुकूल है। विद्वानों का यह भी मानना है कि मगर जाति एवं गुरूंग जाति के रीति-रिवाज में कोई विशेष अन्तर नहीं है। इसलिए मगर जाति का नृत्य शैली एवं बोली आदि में प्राचीन तिब्बती संस्कार का न्यूनाधिक समिश्रण है। दूसरी ओर विद्वानों के कथानुसार मगर मगध से आकर यहाँ बस जाने के कारण से मगर कहलाये। पूर्वकाल में शुद्ध क्षत्रियों में गिने जाते थे। बाद में आचार में शिथिलता प्रवेश के कारण क्षत्रिय जाति से दूर हो गये। मकवानपुर (हथौड़ा) का राजा गजलक्ष्मण सिंह तथा इसी वंश के राजा सुधन्वा ने मकवानपुर में आदर्श शासन संचालन किया था। मगर राजा मुकुन्दसेन ने अन्तिम कर्नाटक राजा हरिसिंह देव के समय में काठमाण्डू उपत्यका पर आक्रमण किया था, जिसका मनोरंजक वर्णन नेपाल के वंशावली इतिहास में मिलता है।

मगर अपने को नागवंशीय क्षत्रिय मानते हैं। इस नाग जाति के लोग आज भी बंगाल में मिलते हैं। जनमेजय के शासनकाल में संम्भव है नागयज्ञ में होम किये जाने के भय से मगध देश के नाग क्षत्रिय वंशज नेपाल में जाकर बस गये हों एवं अपने को छिपाने के लिए भाग क्षत्रिय कहने से विरत होकर मगध निवासी से मगर कहने लगे हों। जो भी हो नाग जाति सर्प की जाति नहीं थी और न जनमेजय ने सर्प जाति का यज्ञ किया था, बल्कि नाग जाति मानवों की जाति थी।

मगर जाति गोरख हिन्दू राजाओं के इतिहास में विशेष महत्त्व के साथ वर्णन मिलता है। आज दिन भी मगर जाति के लोग नेपाल के एक विस्तृत क्षेत्र में फैले हैं। काली नदी के पूर्व भाग में मर्स्यांगदी नदी के तट पर पहाड़ी क्षेत्र के किनारे तक मगर जाति की निवास भूमि है। मगर जाति में वीरत्व एवं साहस कूट-कूट कर भरा है, साथ ही हिन्दू धर्म के प्रति प्रगाढ़-अनुराग के कारण परम राजभक्ति भी है।

मगर जाति के लोगों नाक-नक्श-मंगोल जाति के रंग-रूप से इनकी समता है और बड़े ही साहस तथा वीर होते हैं। इस जाति में विवाह हिन्दू-प्रथा के अनुसार होता है और विवाह को 'फेरा' (सप्तपदी) कहते हैं और विवाह के पश्चात् वर तथा वधू का वस्त्र गाँठ देकर बाँधा जाता है, जिसे अंचल-गाँठ कहा जाता है। इस जाति में पति-पत्नी एक दूसरे को छोड़कर पुनर्विवाह कर सकते हैं। हाँ, विधवा-विवाह की प्रथा नहीं है। इस जाति की अपनी अलग टोलियाँ हैं। मुख्य रूप से विचार किया जाय तो नेपाल में हिन्दू और बौद्ध धर्मों की प्रधानता है। नेपाल की सरकारी पुस्तिका के आधार पर कहा जा सकता है कि यहाँ की जनसंख्या के दस प्रतिशत लोग बौद्ध और नब्बे प्रतिशत लोग हिन्दू हैं।

भोटिया : भोटिया जाति के लोग नेपाल के उत्तरी भाग भोट अर्थात् तिब्बत के सीमावर्ती क्षेत्र में पाईका में निवास करते हैं। इसलिए इनकी भाषा, धर्म एवं सामाजिक-आचरण भोट से विशेष रूप से प्रभावित है। नेपाल में भोटिया नाम की एक जाति भी निवास करती है, किन्तु ये लोग सीधे भोटिया जाति के नाम से संबोधित नहीं होते। ये अनेक उपजातियों में विभक्त है। भोटिया नामकरण भूटान की देन है। उसी प्रकार शेरपा शब्द का भोट भाषा में शाब्दिक अर्थ 'पुर्विया' होने के कारण इस जाति को 'नय' अर्थात् नेपाल के उत्तर 'पूर्वी' भाग में अवस्थित होने का अनुमान किया जा सकता है। आज भी शेरपा जाति के लोग सिक्किम एवं दार्जिलिंग के क्षेत्र में बड़ी संख्या में निवास करते हैं।

सृष्टि के आदि काल से प्राणियों का निवास स्थान भूटान में था एवं देवाधिदेव महादेव का निवास स्थान कैलाश में था। कैलाश के निकटतम स्थान भूटान होने के कारण भूत (प्राणियों) यहीं पर रहते थे। इसी कारण यह स्थान भूत अर्थात् भूतों (प्राणियों)का स्थान भूटान कहलाया। इसी देश के नाम पर भोटिये नाम से इस जाति की प्रसिद्धि प्राप्त की। इस जाति का ताना वैदिक आत्मा एवं बाना बौद्ध अनात्मा है। इनके उपजातियों में शेरपा, तामंग, थाकसे आदि अनेक अन्तर्भेद हैं। बताया जा चुका है कि शेरपा का अर्थ पूर्व के निवासी होने के कारण, थाकसे का अर्थ थाक नाम की नदी के तट पर निवास करने से थाकसे नाम पड़ा। 'च्यापांग' नाम की एक जाति भी यहाँ मिलती हैं। यह भी भोटिये जाति का ही एक अंग है। इनकी जनन उत्पत्ति में अब न्यूनता दिनों-दिन आती जा रही है। ये लोग दक्षिणी पर्वतमाला के 'फंदियों' में रहते हैं। जिस स्थान पर ये रहते हैं, वहाँ की वनस्पतियाँ संतान निरोधक है। ये च्यापांग जाति के लोग हिन्दू माने जाते हैं। इनके रीति-रिवाज एवं नामकरण आदि सब भारतीय ढंग के होते हैं। भोटिया जाति के लोग पहाड़ी इलाकों में रहते हैं। ये बलिष्ट परन्तु देखनें में सुन्दर नहीं होते। इनमें भारी से भारी बोझ उठाने की अद्‌भुत सामर्थ्य होती है।

लिम्बू : लिम्बू जाति के लोग काठमाण्डू उपत्यका के पूर्वी पहाड़ी क्षेत्रों में रहते हैं ये बड़े ही बलिष्ट होते हैं और कुशल शिकारी भी। इनका रंग-रूप मंगोल जाति से मिलता-जुलता है। इन्हीं का दूसरा नाम 'याकथुम्बा' है। इनके यहाँ प्रेम-विवाह प्रचलित है और युवक-युवतियों को प्रेम करने की स्वतंत्रता है। ये लोग शव को जलाते नहीं, गाड़ते हैं। इन लोगों पर बौद्धों और हिन्दुओं का गहरा प्रभाव है।

राई जाति : इस जाति के लोग काठमाण्डू उपत्यका और मकवानपुर जिला हथौड़ा के गाँवों में काफी संख्या में रहते हैं। राई समुदाय जातियों का

सम्मिलित रूप होने के कारण अनेक उपजाति (थर) में विभाजित हैं। जिनकी संख्या बहुत बड़ी है। इनमें प्रत्येक जाति का अपना-अपना अलग भाषा, रीति-रिवाज एवं उत्पत्ति स्थल है। प्रत्येक जाति और उपजाति का भाषा संख्या में रहते हैं। राई समुदाय जातियों का सम्मिलित रूप होने के कारण अनेक उपजाति (थर) में विभाजित है। जिनकी संख्या बहुत बड़ी है। इनमें प्रत्येक जाति की अपनी-अपनी अलग भाषा, रीति-रिवाज एवं उत्पत्ति स्थल है। प्रत्येक जाति और उपजाति का भाषा अलग-अलग होने के कारण सम्पूर्ण राई जाति का साझा भाषा 'नेपाली' है।

'राई प्राविधिक शब्द है, जिसका अर्थ 'प्रमुख व्यक्ति' होता है पर वर्षों बाद सम्पूर्ण जाति पहचान के लिए राई शब्द का प्रयोग होने लगा है।' राई जाति के लोग अपने को लिम्बू मानते हैं। ये लोग शिव और विष्णु की पूजा करते हैं। यहाँ विवाह के पूर्व प्रेम स्वतंत्र है। तलाक, पुनर्विवाह और विधवा विवाह की भी प्रथाएँ इस जाति में प्रचलित है। राई जाति प्रकृति पूजक हैं, या खम्बू मुख्य रूप से पितृ (माड़) और प्रकृति पूजा करते हैं। भगवान शिव (चारूहाड़) और माता पार्वती (सुम्नीमा) सृष्टिकर्त्ता के रूप में पूजे जाते हैं। धार्मिक कार्य और पूजादि सम्पन्न करने वाले धर्म गुरू को "माड़पा" कहा जाता है। अनाज या फसल तैयार होने पर सर्वप्रथम प्रकृति और पितृ को अर्पण किया जाता है। इस अवसर को पर्व के रूप में उमंगोंत्साह के साथ मनाया जाता है। वर्ष में दो बार यह पर्व मनाया जाता है। वैशाख महिना में मनाये जाने वाले पर्व को 'साकेवा' (उँभौली) और मार्गशीर्ष महिना में मनाये जाने वाले पर्व को (उँधौली) कहा जाता है।

तैलिक (तेली)

प्रचलित मान्यता के अनुसार तैलिक (तेली) जाति के उद्‌भव का सम्बन्ध जहाँ एक ओर भगवन शिव और उनकी पत्नी पार्वती के साथ घनिष्ठता से जुड़ा हुआ है, वहीं दूसरी ओर तिल और घानी अथवा कोल्हू के साथ भी जुड़ा हुआ है। एक अन्य अनुश्रुती के अनुसार तेलियों के आदि पुरूष का नाम बनपाल था जो कि अग्रवाल (मारवाड़ी-अग्रहरि वैश्य) समुदाय के संस्थापक भी माने जाते हैं। कालान्तर में धीरे-धीरे हिन्दू समाज में शारीरिक श्रम के विचार में कुछ परिवर्तन आया। परन्तु 'मनुस्मृति' के काल तक तेल पेरने का कार्य एक सम्मानजनक वृत्ति मानी जाती थी तथा ब्राह्मण भी तेल पेरने के काम में लगे हुए थे। प्रो. ए. एस अल्तेकर के अनुसार तेल निकालने वाले सुसंस्कृत और शुद्ध समृद्ध वर्ग के लोग थे और इनमें से कुछ तो दार्शनिक अन्तर्दृष्टी और संस्कारों में विख्यात ब्राह्मण पंडितों से भी श्रेष्ठ थे जैसा कि 'महाभारत' के 'शान्ति पर्व' में उल्लेख है। वाराणसी के तुलाधर 'वैश्य' ने प्रसिद्ध ब्राह्मण दार्शनिक जाजलि को शास्त्रार्थ में पराजित किया था।

प्राचीन समय में तिल को पवित्र वस्तु माना जाता था और इनके व्यापार को राष्ट्र की प्रगति के लिए शुभ माना जाता था। श्रद्धा एवं अन्य अनेक अवसरों पर तिल का आवश्यक रूप से उपयोग होता था। अतः तिल का व्यापार वैश्य की स्वाभाविक वृत्ति के अन्तर्गत ही था। इन तेल व्यापारियों के बड़े-बड़े संगठन और श्रेणियाँ होती थी और ये अपनी सम्पन्नता के लिए विख्यात थे। वे तेल के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं का व्यापार भी करते थे। सम्भवतः 'तिल' का वयापार करने के कारण वे लोग तीली, तेली, तैलिक कहलाने लगे हैं। देश-भेद व देश भाषा के कारण इस जाति के भी कई नाम हैं-- बंगाल में कालू, राजपूताना, बिहार और उत्तर प्रदेश में तेली, संस्कृत में तैल्यकार, उत्तरी भाग में घाँची, तैलंग, कूलुवार्ल, द्रविण क्षेत्र में तैल्यकार और कर्नाटक में ज्योतिनगोरा आदि कहे जाते हैं।

तुलसीदास ने रामायण में तेली जाति के विषय में जो बातें लिखी हैं उससे इस पंक्ति का लेखक सहमत नहीं है--- ('जे वर्णाधाम तेलिकुमार, श्वपच किरात कोल-कलवारा (तुलसी कृत 'रामायण')।

मध्यप्रदेश में तेली लोग अपने को राठौर कहते हैं जैसे दिल्ली और राजस्थान के कुछ तेली लोग अपने को अग्रवाल तथा बिहार और उत्तर प्रदेश में कमलापुरी और जौनपुरी वैश्य कहते हैं।

तैलिक वंशज के चार कुलों की उत्पत्ति आबूपर्वत पर एक अग्निकाड कुण्ड से होता है। इससे इन्हें अग्निवंशी कहा गया। प्रथम पुत्र ब्रह्मा के चुल्लू डालने से चौलुक्य देव उत्पन्न हुए, इन्हीं के सोलह संतान होने से ये सोलंकी राजपूत कहलाए। सन् 1022 ई. में प्राप्त कानही ताम्रपत्र में सोलंकी वंश की वंशावली इस प्रकार लिखी है कि प्रसिद्ध चालुक्य वंश में युद्धमल नाम का राजा हुआ जो सवालाख प्रदेश का स्वामी था। तेल से भरे तालाब में मस्त हाथियों को स्नान कराने का अइरावत उत्सव किया। इस अनोखी घटना से उसकी कृति चारों ओर फैल गयी और इस वंश को तेल चालुक्य कहा जाने लगा।

तैलंग प्रदेश के शासन होने से इन सोलंकियों को तैलिंगन, तैलंगना, तैलिन, तेल व तेली घोषित किया गया। श्री ईश्वरी प्रसाद गुप्त इतिहास में उक्त वंश में तेल अथवा तेली के बेटे का राजा होना लिखा है। इतिहासकारों के मतानुसार दक्षिण के सोलंकी राज्य की जड़ प्रथम तैलपदेव से जमी द्वितीय तैलपदेव से प्रसिद्धि के नाम से ही इस सोलंकी राजवंश का नाम तेली सोलंकी राजवंश पड़ गया। 'भारत के महापुरुष' पृ.--566 में सोलंकियों के अनेकानेक शिलालेखों से प्रतीत होता है कि इनका राज्य अयोध्या में रहा, इसके बाद में दक्षिण में आये, उद्‌यन के पश्चात् दक्षिण में राज्य किया।

'सेन्ट्रल प्रोविन्सेज इथनोग्रापिक सर्वे' पृ. 109 के पैरा 16 के अनुसार तेली जाति के लोग बहुत उद्यमशील हैं और उनमें से अधिकांश ने अपने परंपरागत व्यवसाय को छोड़कर अधिक लाभप्रद और सम्मानजनक व्यवसाय को अपना लिया है। वास्तव में 'तेली' शब्द 'तिल' से ही बना है। तिल प्राचीन काल में बहुत पवित्र समझा जाता था। गोभिल ऋषि का कथन है कि किसी व्यक्ति को प्रभावित करने वाले अपशकुनों तथा विपत्तियों को दूर करने के लिए तिल शरीर पर धारण किया जाता था। "ब्रीहयः शालयों मुद्रां गोधूमा सर्षपास्तिलाः।/ यवाश्चौषधयः सप्त विपदंधम्ति धारिताः।।" - अ. 3, 106 - मि. रिजले ने लिखा है--- 'बंगाल और बिहार के तेलियों का स्थान तेलंगाना के तेलियों की भाँति ऊँचा माना जाता है। उनके हाथ से जल ग्रहण करके ब्राह्मण अपने को भ्रष्ट नहीं मानते।' बिहार में तेली एक सशक्त जाति है। यह नहीं सोचना चाहिए कि वे केवल तेल पेरने का ही काम करते थे बल्कि आज भी पटना, गया, शाहाबाद ऐसे जिलों में वे हर व्यापार के क्षेत्र में ऊँचे दर्जो पर देखे जाते हैं। एक कहावत प्रसिद्ध है-- 'तुर्क, तेली, ताढ़-- इन तीनों का बिहार है। इससे पता चलता है कि इस कस्बे में ये लोग समृद्ध और विख्यात व्यापारिक जातियों में से हैं।'

तेली जाति के कई भेद-उभेद हैं---

ब्याहुत-- ये विधवा विवाह नहीं करते।

जैसवार-- यह एक क्षत्रियों का एक भेद भी है।

जौनपुरी-- जौनपुरी (उ.प्र.) के निवास से।

कन्नौजिया, मथुरिया, बनारसिया-- निकास के कारण नाम हुआ है।

राठौर--- यह राजपूत वंश का नाम है।

श्रीवास्तव-- यह कायस्थ जाति का भेद है।

उमरे-- उमर व ओमर यह एक बनियों की जाति है।

भैंसाहा-- भैंसा को काम में लेने वाले।

परनामी, रेठी, श्रीवर, भीआन-- ये सब ब्रह्मवर्त्त देश में हैं।

सैथवार-- यह कुर्मियों का भी एक भेद है।

पुरबिया व पछांहा-- देश-भेद के कारण।

भदोरिया-- राजपूतवंश।

कलोजिया, चमारतेली, तुरकिया, पचपीरिया, महयेसिया, कैथिया, सुरहिया, बतरा, माऔर,

बड़ानिया, भिझोटियाँ आदि। इससे ज्ञात होता है कि तेलियों में सब जातियाँ सम्मिलित हैं।

तेली जाति के ऐतिहासिक महापुरूषगण

1. दानवीर भामाशाह-- तैलिक वैश्य कुलोत्पन्न भामाशाह महाराणा प्रताप सिंह के महामंत्री थे। सुप्रसिद्ध हल्दी घाटी के युद्ध में भामाशाह एवं उनके भाई ताराचन्द ही मुख्य सैनिक अधिकारी थे। प्रताप ने जब प्राणों की बाजी लगानी चाही, तो धन की समस्या भामा शाह ने अपनी सारी सम्पत्ति देकर निकाला।

2. श्री तुलाधर शाह-- द्वापर युगीन वाराणसी निवासी साहु शिरोमणि श्री तुलाधर शाह अपने समय के सबसे धर्मात्मा, दार्शनिक, तपस्वी और तत्त्वदर्शी महापुरूष थे। वे तेल, घृत, लाख, ईत्र, जड़ी-बूटी आदि का व्यवसाय करते हुए अध्यात्म ज्ञान की साधना भी करते थे।

3. श्री नरसिंह गुप्त बालादित्य-- संसार प्रसिद्ध नालंदा के मठों-मंदिरों का निर्णाण कराने वाले तैल ढ़ाका (वर्तमान तेल हाड़ा), नालंदा, बिहार निवासी श्री बालादित्य, सुप्रसिद्ध गुप्तवंश के थे, जैसा कि चीनी यात्री ह्वेनसांग ने अपने यात्रा-वर्णन में भी उल्लेख किया है। इस तथ्य के आधार पर गुप्त साम्राज्य के वैश्य सम्राट वस्तुतः तेली के ही सिद्ध होते हैं।

4. गुरू गोरखनाथ-- गोरखनाथ एक महान् योगी, गंभीर दार्शनिक, प्रभावशाली धर्मनेता और युग-प्रवर्त्तक आचार्य थे। तैलिक परिवार में उत्पन्न होने वाले इस योगी का जन्म 9वीं सदी के उत्तरार्द्ध में पेशावर या पश्चिम पंजाब (भारत) में हुआ था।

5. श्री विष्णुगुप्त-- तैलिक परिवार में उत्पन्न श्री विष्णुगुप्त परम आस्तिक, धर्मात्मा और वेदों के गंभीर पंडित थे। कृषि-कार्य, पशुपालन, रुपये का लेन-देन, ईत्र, जड़ी-बूटी, फल-मूल, वस्त्र-धातु की बनी हुई वस्तुओं, दूध, घी, आंटे, तेल का व्यवसाय करते थे।

6. चेदिराज गांगेय देव-- मालवा पश्चिम में चन्देवरी त्रिपुरारी का कलचुरी के नरेश तैल्य द्वितीय थे, जिन्होंने- भोज के चाचा भुंज को पराजित किया था। इन्हीं के तैल्य द्वितीय के पुत्र गांगेय देव थे, जिनका शासन काल 9वीं शती के पूर्वाद्ध माना जाता है। श्री हेमचन्द्र शाह (हेमू शाह), स्वामी चरणदास, कवयित्री खगनिया, वीरांगना ताई तेलिन, भक्त राव श्री संताजी महाराज जगनाडे, संतुतेली, महारानी स्वर्णमयी, श्री कृष्णदास पाल, डॉ. कार्तिक प्रसाद देव, श्री काली प्रसाद देव, श्री शिदिन प्रसाद श्रीवास्तव, रायबहादुर श्री देवनन्दन प्रसाद सिंह, डॉ. आर. के षणामुखम् चेट्टी, डॉ. मेघनाथ साहा, श्री रामचन्द्र नन्दी, एम.ए, श्री वंशीलाल एम.एल. सी., श्री दीनबन्धु साहु, श्री रामलखन प्रसाद गुप्त, श्री पुरन्दचन्द्र, श्रीमती केसर बाई क्षीरसागर, श्री श्यामसुन्दर गुप्त, श्री संतोष कुमार साहु, साहु शिवनन्दन प्रसाद, आई. आर. एस, श्री जी.पी. साहु प्राचार्य आदि है जिसमें कुछ महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व हुए।

चमार, दुसाध और हलालखोर

चर्मकारी करने वाले चमार जाति के लोग हैं। डॉ. योगानन्द झा ने लोकमान्यतानुसार इस ब्रह्मवंश की निम्न शाखा मानी है। नेपाल के पूर्वी भागों जैसे जनकपुर, राजविराज, विराटनगर, में इस जाति की अनेक पहेंत और उपाधियाँ हैं--जैसे-- मोची, राम, रौत, सफरी, महरा, चोखरियाँ, पंजतोड़ा, पौड़, नाइक, दास, गोटिया, कमरी, छपरिया, मगहिया, बोहित आदि। इस जाति के लोक देवों में धरमराज, लालामहराज, लुकेसरी, मनसाराम, महमाया, कालीबन्दी, खलपा आदि नाम से प्रसिद्ध हैं। ग्रामीण प्रसविनी महिलाओं के सोईरी-कर्म में 'चमैन' की अहम् भूमिका होती है। लोरिक के भाट और दुर्दान्त पहलवान बेन्ठा चमार इस कुल के थे। विवाह, कूप अथवा पोखरा खनाई, दशहरा, दीपावली आदि मांगलिक अवसरों पर चमारों के ढ़ाल-पिपही का बाजा शुभकारी माना जाता है।

चमार जाति के पूज्य लोक देवी : चम्पाड़गरिन- चमार कुल में उत्पन्न सुविज्ञा एवं कुशल डगरिन, जो राजा सहलेश की समकालीन थी। प्रसविनी नारियों की सहायता करना इनका मुख्य कर्म था। इसका उल्लेख 'सहलेश' के लोक गीत में मिलता है।

चमार जाति के लोकदेव : बेण्ठा चमार - एक हरिजन लोकदेव। इनकी चर्चा लोरिकायन में है। वे एक दुर्दान्त जंगली पहलवान थे। इनके अत्याचार से लोग तबाह थे। लोरिक मनियार ने उसे परास्त किया था।

चमार जाति के विषय में डॉ. रामदयाल 'राकेश' ने लिखा हैं : They are shoemakers. They make sandals; drums; seccerbuls and bycycles seats out of leather. They carry the carcess of dead animals of the village. They are hired to play drums in the musical bands on the several occasions.

पं. ज्वाला प्रसाद मिश्र ने चमार जाति के विषय में अपने ग्रंथ 'जाति भाष्कर' में लिखा है--- "तीवरेण च चाण्डल्यां चर्मकारों बभूत ह।। चर्म कार्याञ्ज चाण्डालान्मांसच्छेदी बभूवह।।" अर्थात् तीवर से चण्डाली में चमार होता है और चमारी में चण्डाल से मांसच्छेदी कसाई होता है।।238।। (103)

दुसाध जाति : इस दुसाध जाति के लोग प्रायः नेपाल की तराई के जिलों जैसे-- पर्सा, बारा, सर्लाही, मोरंग, धनुसा, रूपन्देही, सुनसरि और रौतहट में यत्र-तत्र अल्पसंख्यक के रूप में रहकर प्रायः कृषि कार्य, चौकदारी और अन्य कार्यों में लगे हैं। इस जाति के लोगों की उपाधियाँ हैं-- राम, चौधरी, सिंह, पासवान, गहलोत आदि।

दुसाध जाति के लोकदेव : चूहड़मल - 13वी. शताब्दी का एक लोकदेव, जिसका जन्म स्थान मोकामा (पटना, बिहार) के उत्तरी गाँव में है। उसने मोकामा की रेशमा नामक युवती से प्रेम विवाह किया था। चूहड़मल के पिता राजवंशी और चाचा वंशीराम थे। ये दूधवंश (दुसाध जाति) में उत्पन्न हुए थे। इसका कार्य-क्षेत्र मिथिला से लेकर नेपाल तक रहा है। चौरकर्म को भेद को बताने में वे परम सिद्ध पुरुष थे। इनके भगतिया भी ऐसा ही करते हैं।

दुसाध जाति के विषय में डॉ. डी. वी. विष्ट ने लिखा है- They are economically very important castes beacause they are study and stout in physique adn are good laboures. They serve as chaukidars (Police) in the villages at night. They are employed by the village community to keep vigil in the village at night. So, They act as watchman they are also called paswan. Theyare becoming politically conscious day by day.

हलालखोर : हलालखोर को कहीं-कहीं हलखोर भी कहते हैं। यह एक अछूत जाति है। यह जाति आज भी आर्थिक और शैक्षणिक रूप से काफी पिछड़ी है।'

इस जाति के विषय में डॉ. रामदयाल 'राकेश' जी ने लिखा है :- They are called Mesters who clean the village latrines. When requested they also clean the villages streets on certain occasions on the wage basis. They very useful castes in the Hindu community. (Jankpur : A sacred place)

संथाल : बिहार में जनजातियों की जनसंख्या राज्य की कुल जनसंख्या का 7.66 प्रतिशत है। राज्य में कुल तीस जनजातियाँ पाई जाती हैं। संथाल, हो, मुण्डा, उराँव, बिरहोर, असुर, खरवार, माल पहाडियाँ, कोरवा, बिरिजिया, सौरिया पहाड़ियाँ, बैंगा, परहैय्या बनजारा, बाथुदी, बेड़िया, बिल्झिया, चोर, चिक बडाइक, करमाली, खड़िया, खोंद, किसान, कोरा, भूमिज, लोहरा और महाली। बिहार में संथाल नामक जनजाति की संख्या सबसे अधिक है। इसमें बहिर्विवाह की प्रथा पायी जाती है। संथालों

में विवाह को वापला कहते हैं। संथाल जनजाति का मुख्य क्षेत्र है-- भागलपुर, संथाल परगना (झारखण्ड), पलामू, धनबाद, हजारीबाग इत्यादि।

आग्नेय (ऑस्ट्रिक) प्रजातीय संथाल (संताल) लोग, जिनका प्रजातीय संबंध पुराकाल से ही सुमात्रा, जावा, बोर्नियों आदि पूर्वीय द्वीपपुंज के मोन, ख्मेर, बहनार, सेकई, सेमड़ आदि तथा श्रीलंका के वेद्या, निकोबार द्वीप के निकोबरी और पूर्वी भारत के खासी प्रभृति लोगों से जोड़ा जाता है, जो भारत के आदिम निवासियों में से हैं। भारत में इन लोगों का इतिहास सिन्धुघाटी की सभ्यता से जुड़ा हुआ है जहाँ से उद्वासित होने पर इन लोगों का प्रव्रजन इस देश के राजस्थान, मध्यभारत और गांगेय प्रक्षेत्रों में होते हुए वर्तमान बिहार, उड़ीसा, पश्चिम बंगाल और असम राज्य के मुख्यतः वन-पर्वतीय अंचल में होता रहा है और जिनके पुष्कल प्रमाण इन लोगों की भाषा-सम्पदा और लोक-सिद्धि में विद्यमान है। सम्प्रति उपर्युक्त चारों राज्यों में इन लोगों की कुल आबादी लगभग 50 लाख है जबकि झारखण्ड के संथाल परगना जिला में ये लोग सबसे अधिक, लगभग 15 लाख की संख्या में हैं। सन् 1855-56 में इस जनजाति के वीरवर 'सिदो-कान्हू' नामक दो भाईयों के नेतृत्व में अंग्रेजों की 'ईस्ट इंडिया कंपनी' के शासन के विरुद्ध एक प्रबल जन-क्रान्ति हुई थी जिसे भारतीय स्वतंत्रता-समर की पहली चिनगारी कहा जाना समीचीन होगा। यों, वह सशस्त्र जन-क्रान्ति साधारणतः 'संथाल-विद्रोह' के नाम से अभिहित है। उसी जनक्रांति के फलस्वरूप ब्रिटिश शासन ने सन् 1855 ई. के अधिनियम 37 के अनुसार इस देश के मानचित्र में 'संथाल परगना' नामक एक जिले का निर्माण किया था जो अब 1983 ई. से जिला है। मुंडा, हो, खड़िया, बिरहोड़ (बिरहोर), कोरकू, कोरवा, कोड़ा, जुआड़ आदि भरातीय जन-जातियों के लोग संथाल (संताल) लोगों के सजातीय हैं।

धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, भाषाई आदि बातों में संथाल लोगों की अपनी अनेक विशेषताएँ हैं, यद्यपि युगों के सम्पर्क और सान्निध्य के फलस्वरूप भारतीय आर्य-द्रविड़ भाषा-संस्कृतियों का आदान भी उस मामले में कम नहीं है। इन लोगों के सबसे बड़े देवता 'माराड़-बुरू' (महादेव-माराड़-बड़ा, बुरू-देव, पर्वतवासी) और सबसे बड़ी देवी 'जाहेर एरा' 'भगवती देवी' हैं जबकि 'मोड़ेको-तुरूइको'-- (पंचदेव-षंष्ठदेव) --- 'गोसाँई एरा' (गोसाई देवी), आदि इन लोगों के अन्यान्य प्रमुख देवी-देवता है। सिंधु घाटी में हुए उत्खनन से जिन 'पशुपति' और किन्हीं देवी के अवशेष प्राप्त हुए हैं वे उन्हीं 'मराड़-बरू' और 'जाहेर एरा' के प्रतीत होते हैं जिनकी मान्यता अनेक विद्वानों ने उन्हीं रूपों में दी है। वेदों में इन आर्येतर लोगों का उल्लेख 'शिश्नदेव्यः' (लिंगपूजक) के रूप में हुआ बताया जाता है जबकि आज भी इन लोगों के 'माराड़-बरू', 'जाहेर एरा' आदि देवी-देवता इनके धर्म स्थान 'जाहेर-थान' में विभिन्न वर्तुलाकार पाषाण-खण्डों के रूप में भिन्न-भिन्न वृक्षों के तले संस्थापित रहा करते हैं। दूसरी ओर इनके प्रत्येक गाँव में इन लोगों के प्रधानों के पितर उसी प्रकार वो पाषाण-खण्डों के रूप में उनके 'माझीथान' नामक स्थान में संस्थापित हैं। संभव है, आर्य-संस्कृति में शिवलिंग-पूजन का प्रचलन इन आर्येतर लोगों के लिंग-पूजकत्व से ही हुआ हो। संथाल (संताल) लोगों में शिवरात्रि को शिव-पार्वती के विवाह के रूप में माना जाता है तथा प्रति वर्ष शिवरात्रि से पहले किसी का विवाह होने का विधान नहीं है।

'सोहराय' (गो-पूजन पर्व), 'बाहा (वंसंतोत्सव)', 'एरोक (बीजवपन का पर्व)', 'जान्याड़', 'हरियाड़ सिम' (फसल संबंधित --त्योहार)-- संथाल लोगों के प्रमुख जातीय पर्व-त्योहार हैं। 'सोहराय' को हमारी 'दीपावली' और 'बाहा' 'जानाम छठियार' (जन्म-संस्कार), 'चाचों छठियार' (शिशु-संस्कार), 'बापला' (विवाह), 'भाण्डान' (मृतक-संस्कार)

आदि इन लोगों के प्रमुख जातीय संस्कार हैं।

'सोहराय' जहाँ मुख्यतः अपने-अपने गृह-देवता और गोधन-पूजन से संबन्धित पर्व है वहाँ 'बाहा', जिसका अर्थ 'फूल' है, मुख्यतः 'जाहेरा एरा', 'माराड़-बरू', 'मोड़ेको-तुरूइको' आदि जातीय देवी-देवताओं के पूजन-अर्चन से संबन्धित है। 'काराम' इन लोगों का एक प्रसिद्ध यज्ञ है जिसका आयोजन केवल विशेष अवसरों पर ही किया जाता है तथा जिसमें 'करम' वृक्ष का पूजन किया जाता है। यह (यज्ञ) तीन-चार प्रकार का हुआ करता है और सुख-समृद्धि का प्रतीक माना जाता है। अपने देवी-देवताओं की प्रसन्नता के लिए ये लोग अपने पर्व-त्योहारों के अवसरों पर साधारणतः मुर्गे, बकरे आदि की बलि चढ़ाते हैं और अपने यहाँ निर्मित 'हंड़िया' नामक मादक द्रव्य अर्पित किया करते हैं। 'बाहा' सबसे पवित्र पर्व माना जाता है जिसे गाँव में सामूहिक रूप से मना लिये जाने के बाद ही वर्ष के नये फूल-फल-पत्तों का व्यवहार किये जाने का विधान है। इस पर्व के 'प्रसाद' के रूप में प्रत्येक गाँव के नायके (पुजारी) घर-घर जाकर सखुए की मंजरियाँ बड़ी सात्विकता के साथ पहुँचा आते हैं। फिर, हँसी-मजाक के रिश्तों के अनुसार शुद्ध-जल की 'होली' खेली जाती है जिससे पारस्परिक मनोमालिन्य के घुल जाने का विश्वास किया जाता है। प्रत्येक पर्व-त्योहार, जातीय-संस्कार या आनन्दोत्सव के अवसर पर इन लोगों के विभिन्न नृत्य-गीत वाद्य हुआ करते हैं जिसमें स्त्री-पुरूष सभी भाग लेते हैं। 'हँड़िया' का दौर तो चलता ही है।

संथाल लोगों के कुल बारह 'पारिस' (गोत्र) हैं-- मूल के हाँसदक्, मुर्मू, किसकू, हेम्बरोम, मरण्ड़ी, सोरेन और टुडू हैं तथा बाद के बासके, बेसरा, पौंडिया, चोड़े और बेदिया। कहा जाता है कि किसी समय किसी 'चाय-चाम्पा' नामक स्थान में किसकू गोत्र के राजा, सोरेन गोत्र के सैनिक, हेम्बरोम गोत्र के 'कुँअर', मरण्डी गोत्र महाराजा, टुडू गोत्र के संगीत-साधक लोग थे। विभिन्न गोत्रों में उँचाई-निचाई का कोई सामाजिक भेद-भाव नहीं है, सभी एक समान है। बेदिया गोत्र वाले अब कहीं नहीं मिलते हैं। सगोत्रीय विवाह-संबंध पूर्णातः निषिद्ध है। यदि किन्हीं के द्वारा इस विधान का उल्लंघन हो जाय तो उन्हें 'बिटलाहा' (जातिच्यूत) कर दिया जाता है। वर पक्ष द्वारा वधू पक्ष को 'गोनोड़ पोन' (वधू शुल्क) दिये जाने की प्रथा है जो परम्परागत रूप में पच्चीस रुपये हुआ करता था। वर द्वारा वधू के माथे पर 'सिन्दूरदान' द्वारा विवाह सम्पन्न हुआ करता है। इन लोगों में विधवाओं और परित्यक्तओं के पुनर्विवाह की प्रथा भी है।

संथाल लोगों का प्रत्येक गाँव, एक प्रकार से, अपने-आप में एक स्वतंत्र इकाई हुआ करता है जिसके सामाजिक संचालन के लिए प्रत्येक गाँव में पाँच पदाधिकारी होते हैं-- माँझी (ग्राम प्रधान) 'परानिक' (समाजपति), 'जोग माँझी' (उपप्रधान), 'जोग पारानिक' (उप समाजपति) और 'गोडेत' (गोड़ाइत या हरकारा)। गाँव वालों के जन्म से लेकर मृत्यु तक के प्रत्येक मामले में इन पंचों की उपस्थिति, सम्मति और सहमति आवश्यक हुआ करती है। 'माँझी' तो धुरी है। 'जोग-माँझी' पर गाँव के युवा वर्ग के यौनाचार पर 'दृष्टि' रखे जाने का भार विशेष रूप से रखा जाता है ताकि कभी कोई विवाह हो जाने पर उसका समाधान आसानी से किया जा सके। उपर्युक्त पाँचों पदाधिकारियों के अलावा प्रत्येक गाँव में एक 'नायके (पुजारी) और एक 'कुडाम' नायके (सह-पुजारी) भी रहा करते हैं जिन पर गाँव भर के कुशल-क्षेम के लिए देवी-देवताओं के पूजन-अर्चन का दायित्व रहा करता है। साथ ही आस-पास के पाँच गाँवों पर एक 'पारगना (परगनैत) और उनके पाँच सहायक 'देशमाझी' भी होते हैं जिन्हें गाँव के 'पंचों' द्वारा किये गये किसी निर्णय पर 'अपील' सुनने का अधिकार रहा करता है।

नृत्य, गीत और वाद्य संथाल-जीवन का अभिन्न अंग मनोरंजन का मुख्य साधन है। जन्म से लेकर मृत्यु तक इन लोगों के दौड़, लागड़े, बाहा, सोहराय, भिनसार, गुग्जार-झिका, काराम, गोलवारी, हुमटी, रिञ्जा, दासाँय इत्यादि विभिन्न प्रकार के गीत, नृत्य और वाद्य विभिन्न अवसरों के लिए हैं। सोहराय, भिनसार, गोलवारी आदि कुछ गीत-नृत्य-वाद्य इनके 'सोहराय' पर्व के दिनों के लिए है तो 'बाहा' इनके 'बाहा' पर्व के दिनों के लिए हैं। हाँ, दौड़ और लागड़े गीत-नृत्य-वाद्य के लिए अवसर का वैसा कोई प्रतिबंध नहीं है। दौड़ मुख्यतः प्रणाम और विवाह से संबंधित गीत-नृत्य-वाद्य है। जबकि लागड़े प्रधानतः गार्हस्थ्य जीवन से संबन्धित है। लागड़े गीत प्रायः बंगला-हिन्दी भाषा मिश्रित हुआ करते हैं। इनके वाद्य यंत्रों में 'तुम्दाक्' (माँदल), 'टामाक' (नगाड़ा), 'कोरताल' (झाँझ), 'तिरियों' (बाँसुरी), 'बानाम' (सारंगी) और 'काबकुबी' (तन्तु-वाद्य) मुख्य है। 'तुम्दाक्' दो कराघात द्वारा और 'टामाक' को लकड़ी की पुल्ढियों द्वारा बजाया जाता है। 'ताहाँरेत' नाना तारना, ना नाना रे इन लोगों के कतिपय गीतों का तराना (धुन) तथा 'दाड़-दाड़-दाड़', दादाड़ फेत.... कतिपय वाद्यों के ताल हैं। बाँसुरी तो मानो संथाल-युवक की सहचरी ही है। गोचारण करते हुए मेले-ठेले को जाते हुए, काम-धंधों के क्रम में क्षणिक विश्राम करते हुए संथाल युवकों के बाँसुरी-स्वर गूँजा करते हैं। 'बिट सेरेञ' (जंगल गीत) कामुकतापूर्ण (अश्लील) गीत है जो प्रायः गाँव घर से बाहर जंगलों में आखेट-शाक संचय आदि के अवसरों पर युवावर्ग द्वारा गाये जाते हैं। उसी प्रकार सामूहिक रूप से आयोजित वार्षिक आखेट के दिनों में 'दुगड़' नामक अश्लील 'प्रायः नग्न' नृत्य जंगलों में 'बिटलाहा' के समय हुआ करता है। इस नृत्य का अभिप्राय किसी कारण से व्यक्ति-विशेष या प्रसंग विशेष पर घृणा प्रकट किया जाता है किन्तु अब 'दुंगेड़' नृत्य विलुप्त प्रायः है।

संथाल लोगों की मातृभाषा 'संथाली' (संताली) है जो वाचिक रूप में जीवित और अक्षुण्या रहती आई है, किन्तु अब विशेषतः देश की स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद से, इस भाषा-साहित्य के संरक्षण और उन्नयन के दिन भी आये हैं। झारखण्ड के दुमका और राँची विश्वविद्यालयों में विगत तीन दशकों से संथाली भाषा-साहित्य के अध्ययन-अध्यापन का प्रावधान उच्चतम (एम.ए.) स्तर तक है। पश्चिम बंगाल और उड़िसा में भी, संभवतः, माध्यमिक स्तर तक संथाली के पठन-पाठन की व्यवस्था है। संप्रति इस भाषा में कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, निबंध आदि विभिन्न विधाओं की पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं प्रकाशन धड़ल्ले से हो रहा है। आकाशवाणी के कोलकाता-केन्द्र से संथाली में समाचार-प्रसारण भी होने लगा है जबकि समय-समय पर विभिन्न रचनाओं का प्रसारण भी हुआ करता है। बिहार सरकार द्वारा संथाली के प्रथम साप्ताहिक समाचार विचार-पत्र 'होड़-सोम्बाद' (नागरी लिपि में) और पश्चिम बंगाल सरकार द्वारा पाक्षिक पत्र 'पछिम बंगाल' (बंगला लिपि में) प्रकाशन वर्षों से हो रहा हैं।

अन्यान्य संस्थाओं या व्यक्तियों द्वारा रोमन और चिकि (आविष्कृत) लिपियों में भी कतिपय पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही हैं। इस भाषा की अपनी कोई लिपि नहीं रही है। पहले-पहल विदेशी मिशनरियों ने सन् 1850 ई. के आस-पास इस भाषा को लिपिबद्ध किया था जिनके द्वारा बाद में, इसके लिए रोमन लिपि का व्यवहार किया जाने लगा, परन्तु देश के विभिन्न क्षेत्रों नागरी, बंगाल और उड़िसा लिपियों का व्यवहार भी इस भाषा के लिए होता रहा है। बिहार और झारखण्ड प्रान्तों में निम्नतम से उच्चतम स्तर तक की संथाली पाठ्यपुस्तकें नागरी लिपि में हैं जबकि बिहार पाठ्य-पुस्तक निगम (पटना), जन-जातीय भाषा अकादमी (राँची) आदि द्वारा प्रकाशित संथाली पुस्तकें भी नागरी लिपि में ही है। उधर उड़िसा और पश्चिम बंगाल के मेदिनीपुर जैसे क्षेत्रों में स्व. रघुनाथ मुर्मू

(उड़िसा) द्वारा आविष्कृत 'ओल चिकि' नाम की एक नई लिपि का भी प्रचलन है जिसकी अपनी सीमाएँ हैं।

संथाली का लोक-साहित्य, लोक-गीतों, लोक-कथाओं, लोकोक्तियों, पहेलियों आदि के रूप में अत्यधिक सम्पन्न है। कहा जा सकता है कि संथाली लोक-गीत नैसर्गिक प्रकृति के सहज उद्गार, मानवीय प्रवृति के सम्यक शृंगार और वन-पर्वतीय जीनव के स्वाभाविक उच्चार हैं। जहाँ तक काव्यगत सौन्दर्य की बात है, वे (गीत) मात्र रूपगत शिल्प से ही नहीं, अपितु रस, गंध, स्पर्श और आस्वाद से संबंधित अभिज्ञान से भी पूर्णतः संपृक्त हैं। इन गीतों में विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों से संबद्ध अनुभूतियों की बिम्बात्मक अभिव्यक्तियाँ अधिक हैं। नख-शिख वर्णन जैसे स्थिर सौन्दर्यांकन की अपेक्षा कार्यगत सौन्दर्यांकन की प्रमुखता है। अपने श्यामल स्वरूपों में अनुपम सौन्दर्य की अभीप्सा इन भूमिजनों को रहती आई है जिसके समक्ष गौरवर्णी आकांक्षाएं मानों पानी भरा करती हैं।

अंग्रेजी-जर्मन आदि विदेशी भाषाओं में इस देश की जन-जातीय भाषा-साहित्य-संस्कृति पर जितना अधिक साहित्य प्रणीत है उसकी तुलना में हिन्दी में नगण्य है। हिन्दी में फणीश्वर नाथ 'रेणु' ने अपने उपन्यासों में यत्र-तत्र संथाल जीवन की झाँकियाँ प्रस्तुत की हैं। बंगाल में श्रीमती महाश्वेता देवी ने जन-जातीय जीवन पर अपनी कलम उठाकर अच्छी कीर्ति अर्जित की है। परंतु हिन्दी साहित्यकारों का भी ध्यान आकृष्ट होना अत्यावश्य है।

संदर्भ

1. विश्व जाति कोश- डॉ. हरिकृष्ण प्रसाद गुप्त अग्रहरि। **2.** बिहार लोक-संस्कृति कोश : डॉ. हरिकृष्ण प्रसाद गुप्त अग्रहरि।

'अग्रहरि भवन'
पो.- भेलाही, वाया- रक्सौल,
जिला- पूर्व चम्पारण- 845305 (बिहार)
मो.-09472325655

आनन्दमय नृत्य

एक चित्र है – बालकृष्ण का चित्र। फुफकारते हुए भयंकर कालिय नाग पर कोमल चरण बालगोपाल का नृत्य और वंशीवादन। वंशीवादन का अर्थ है– मृत्यु पर अमर जीवन के आनंदमय नृत्यु की सूचना।

कालियनाग के पांच सिर, पांच इन्द्रियों के प्रतीक हैं, जिन पर विजेता आत्मा नृत्य करती है। अक्सर ये इंद्रियां ही जीवात्मा को नचाती है, जहाँ वह जरा सा चूका कि इंद्रियां उसे डस लेती हैं। उससे बचने का उपाय यही है कि हम वासनाओं से ऊपर उठें और अपने को बुद्धि-सारथी के हाथों सौंप दें। इस चरण-प्रहार से कालिय नाग विषवमन करने लगा। इधर कालियनाग विष वमन कर रहा है और उधर बालकृष्ण उसे अपने मधुर वंशी-निनाद से मुग्ध कर रहे हैं। विष से खाली हुए कर्ण-कुहरों को सुधा से भर रहे हैं।

बालकृष्ण का नृत्य काल पर, मृत्यु पर, जीवन का नृत्य है। आनंद हमारे जीवन का ध्रुव सत्य है।

जीवन और आनंद– इसी में भारतीय संस्कृति का सुरीला स्वर ध्वनित है। यह पुराण कथा इसी चिरंतन सत्य की वाहिका है।

साइबर युग में संप्रभुता का बदलता दर्शन

डॉ. मीना रानी

कोई भी राजनीतिक अवधारणा उतनी विवादास्पद नहीं रही जितनी 'संप्रभुता' के दर्शन की रही है। राजनीतिक जगत के बारे में हमारी सोच यही है कि दुनिया में संप्रभु राज्यों का शासन है। जब से आधुनिक राज्य का उदय हुआ है, तब से संप्रभुता के राजनीतिक दर्शन पर निरंतर बहस चल रही है जो थमने का नाम नहीं ले रही। अंतरराष्ट्रीय कानून के तहत एक राज्य वह है जो एक स्थायी जनसंख्या, एक परिभाषित भू-भाग, एक सरकार और अन्य राज्यों के साथ संबंध स्थापित करने की एकमात्र क्षमता रखता है। राजनीतिक वैधता, प्राधिकार और कर्तव्य की चिर-परिचित चर्चाओं के केन्द्र में राज्यों को कानून बनाने, उसकी व्याख्या करने और उनको लागू करने की अधिकार सीमाएं ही होती हैं। सूचना प्रौद्योगिकी के वर्तमान युग में साइबर जगत हमारे चारों तरफ व्याप्त हो गया है जो राष्ट्र-राज्य की भौगोलिक सीमाओं में जकड़ा हुआ नहीं है। इसका दूरगामी असर राज्य की आंतरिक एवं बाहरी शक्तियों पर पड़ा है। प्रस्तुत आलेख में संप्रभुता की अवधारणा के ऐतिहासिक विकास का वर्णन करते हुए साइबर जगत में इसके समकालीन आयाम पर प्रकाश डाला गया है। साइबर जगत की यह बहस संप्रभुता एवं उपनिवेशवाद के विमर्श से अत्यंत गंभीर एवं रोचक हो गयी है।

राज्य की उत्पत्ति पर हॉब्स और रूसो के विचार : राज्य की उत्पत्ति के संबंध में अनेक राजनीतिक विचारकों ने सिद्धांत प्रतिपादित किये हैं जिनमें अंग्रेज विचारक थामस हॉब्स का प्रमुख स्थान है। हॉब्स ने प्राकृतिक अवस्था का वर्णन करते हुए मानव प्रवृत्ति को नकारात्मक स्वरूप में चित्रित किया और एक ऐसे शासक की अवधारणा प्रस्तुत की जो अपने जीवन की सुरक्षा के साथ-साथ अज्ञानी एवं स्वार्थी जनता को भी प्रतिबंधित कर सके। हॉब्स का विचार है कि एक ऐसे व्यक्ति या व्यक्ति-समूह की आवश्यकता पड़ती है जो मनुष्यों को नियंत्रण में रखकर उनको अनुशासनबद्ध करे। हॉब्स ऐसी सत्ता अथवा शक्ति सिर्फ राज्य में पाता है जो समस्त व्यक्तियों की इच्छाओं का प्रतिनिधि होता है। हॉब्स के मतानुसार राज्य एक सामाजिक समझौते के फलस्वरूप अस्तित्व में आता है। इस तरह सारा जन समुदाय एक व्यक्ति में संयुक्त हो जाता है। समझौते के किसी पक्ष के रूप में सम्मिलित न होने से प्रभुसत्ता की शक्ति असीमित और उसके अधिकार निरंकुश हैं। प्रभुसत्ता के आदेशों को गलत नहीं ठहराया जा सकता क्योंकि वह विवेक और नैतिक आचरण का सार है। समझौते का मूल उद्देश्य

आंतरिक या बाह्य अतिक्रमण से व्यक्ति के जीवन की रक्षा करना है। वहीं दूसरी ओर दार्शनिक रूसो समाज के नैतिक पतन के प्रति अत्यधिक चिंतित था और चाहता था कि इस अभिशाप से मुक्त होकर मनुष्य का जीवन नैतिक दृष्टि से उच्च हो जाए। इसलिये रूसो समाज और राज्य की आदर्शवादी दृष्टिकोण से व्याख्या करता है। उसके अनुसार मनुष्य स्वभावतः अच्छा होता है और संसार में पाए जाने वाले भ्रष्टाचार, दुष्टता इत्यादि विसंगतियां भ्रष्ट सामाजिक संस्थाओं की उत्पत्ति हैं। युद्ध और संघर्ष के वातावरण का अंत करने के लिए रूसो एक सामाजिक समझौते की कल्पना करता है जिसके तहत प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकारों का समर्पण समाज के लिए करता है। सामाजिक समझौते द्वारा अस्तित्व में आये राज्य को 'सामान्य इच्छा' कहा जाता है और संप्रभुता की अभिव्यक्ति सामान्य इच्छा में होती है। रूसो के अनुसार सभी व्यक्ति इसके अधीन रहते हुए कार्य करते हैं।

संप्रभुता की अवधारणा का ऐतिहासिक विकास : सत्रहवीं सदी में आधुनिक राज्य के उदय के साथ ही संप्रभुता की अवधारणा उत्पन्न हुई। यूरोप में उस समय राज्यसत्ता राजशाहियों और साम्राज्यों में राजा, पोप और सामंतों के मध्य बंटी हुई थी। उससे पहले पंद्रहवीं और सोलहवीं सदी में सामंतवाद के पतन एवं ईसाइयत में प्रोटेस्टेंट मत के उद्‌भव के परिणामस्वरूप चर्च की मान्यता में कमी आ गई। चर्च की सार्वभौम सत्ता को चुनौती के कारण सम्प्रभु राज्यों को पनपने का अवसर मिल गया।

सीधे शब्दों में कहा जाये तो संप्रभुता का अर्थ है सम्पूर्ण और असीमित सत्ता। इसके निहितार्थ इतने आसान नहीं हैं जितने इसको समझाने के लिये प्रयुक्त शब्द। सम्पूर्ण एवं असीमित सत्ता की बारीकी से पड़ताल किये बिना संप्रभुता की प्रकृति और उसके आयाम नहीं समझे जा सकते। संप्रभुता के अर्थ को समझने एवं समझाने के विवादों के कारण उन्नीसवीं सदी से इसे दो भागों में बाँट दिया गया है। पहला, विधिक संप्रभुता और दूसरा, राजनीतिक संप्रभुता। व्यावहारिक रूप से इसे आंतरिक एवं बाह्य संप्रभुता के संदर्भों से समझने का प्रयास हुआ है। आंतरिक संप्रभुता का अर्थ है कि राज्य के भीतर सत्ता का बंटवारा। बाह्य स्वरूप में इसका अर्थ अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में राज्य द्वारा अपना एक स्वतंत्र अस्तित्व बनाये रखने की क्षमता से लगाया जाता है। आधुनिक राष्ट्र और राष्ट्रवाद के वैचारिक मूलाधारों में भी संप्रभुता की अवधारणा पायी गई है। सभी राष्ट्रों को स्वतंत्र रहने एवं स्वशासन का नैसर्गिक अधिकार प्राप्त है। स्वतंत्रता और संप्रभुता के विचारों की लोकप्रियता एवं स्वीकार्यता से ही द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद एशिया, अफ्रीका और लातीनी अमेरिका में बड़े पैमाने पर नये राष्ट्रों का सृजन हुआ जिसे विउपनिवेशीकरण के नाम से जाना जाता है।

विधिक और राजनीतिक संप्रभुता में वैचारिक अंतर है जिसे समझने के लिए ज्याँ बोदाँ और थॉमस हॉब्स के मतभेदों पर प्रकाश डाला जा सकता है। बोदाँ ने एक ऐसे संप्रभु के पक्ष में तर्क दिया है जो स्वयं कानून बनाता है, लेकिन वे कानून उस पर लागू नहीं होते। इस विचार के गर्भ में कानून का निहितार्थ लोगों को संप्रभु का आदेश मानने वाला बनाना है। परन्तु यहां बोदाँ ने किसी निरंकुश शासक की वकालत नहीं की है। उनकी दृष्टि में कानून बनाने और उनका पालन कराने वाला संप्रभु भी एक उच्चतर कानून अर्थात प्राकृतिक कानून के अधीन रहेगा। दूसरे अर्थों में लौकिक शासक के प्राधिकार पर ईश्वरीय कानून की प्राथमिकता रहेगी। इस विचार के विपरीत थॉमस हॉब्स ने संप्रभुता के विचार की व्याख्या क्रांतिकारी अर्थों में की है। उनकी अवधारणा के केन्द्र में सत्ता का संदर्भ है, न कि प्राधिकार का। हालांकि हॉब्स से पहले सेंट ऑगस्टीन एक ऐसे संप्रभु की कल्पना कर चुके थे जो मानवता की नैतिक बुराइयों को नियंत्रण में रखेगा। इस तर्क को आगे

बढ़ाते हॉब्स ने संप्रभुता को दमनकारी सत्ता पर एकाधिकार के रूप में परिभाषित किया। उन्होंने यह कहा कि संप्रभुता केवल शासक के हाथ में होनी चाहिए। हालांकि हॉब्स के यहां यह सत्ता शासकों के एक गुट अथवा किसी लोकतांत्रिक सभा के हाथ में भी हो सकती है। विधिक संप्रभुता राज्य के कानून को सर्वोपरि मानती है, जबकि राजनीतिक संप्रभुता सत्ता के बंटवारे से संबंधित है। संप्रभुता की व्यावहारिक धारणा में विधिक एवं राजनीतिक दोनों मौजूद हैं। आधुनिक राज्यों की संप्रभुता कानून की सर्वोपरिता पर भी निर्भर करती है। कानून का पालन करवाने वाला तंत्र, जिसके पास दमनकारी शक्तियाँ होती हैं, भी उसकी परिधि में आता है। दूसरे अर्थों में कोई भी कानून नैतिक बाध्यताओं के आधार पर नहीं बल्कि विधिक आधार पर लागू होते हैं। विधिक एवं राजनीतिक संप्रभुता का यह समीकरण दोनों तरफ से प्रभावकारी प्रतीत होता है। कानून को अपने अनुपालन के लिए अगर सत्ता के तंत्र की जरूरत है, तो सत्ता को अपनी वैधता के लिए कानून की संस्तुति की आवश्यकता पड़ती है। शासन अपनी राजनीतिक वैधता तब तक कायम रख सकता है जब तक यह विधिसम्मत कार्य करता है। केवल तानाशाह सरकारें ही दमन पर आधारित शासन करती हैं।

अब सम्प्रभुता के आंतरिक स्वरूप पर ध्यान आकर्षित करना प्रासंगिक होगा। इस मुद्दे पर काफी बहस हुई है कि असीमित सत्ता की हद क्या होनी चाहिए? क्या उसे किसी एक शासक के हाथ में रखा जाना चाहिये अथवा उसे किसी प्रतिनिधित्वमूलक संस्था में निहित होना चाहिये? एक व्यक्ति के हाथ में संप्रभुता प्रदान करने के पीछे यह दलील दी जाती है कि इससे संप्रभुता विभाजित नहीं होगी क्योंकि वह एक व्यक्ति के माध्यम से अभिव्यक्त होती रहेगी। इससे कोई दूसरा व्यक्ति या संस्था हस्तक्षेप नहीं कर सकेगा। यह संप्रभुता की सर्वसत्तावादी अवधारणा है। अठारहवीं सदी में रूसो ने लोकप्रिय संप्रभुता का विचार प्रस्तुत किया था। उसने राजशाही को अस्वीकार करते हुए लिखा है कि मनुष्य स्वतंत्र पैदा होता है, पर हर जगह वह जंजीरों में जकड़ा हुआ है। रूसो की कृति 'सोशल कांट्रेक्ट' संप्रभुता के राजनीतिक दर्शन को नया स्वरूप प्रदान करती है क्योंकि उनका सामाजिक समझौता हॉब्स और लॉक के सामाजिक समझौते से भिन्न है।

रूसो मानते हैं कि व्यक्ति में नैतिक चुनाव की क्षमता होने के कारण वह सबसे अलग है। अगर उसे यह चुनाव करने की स्वतंत्रता न मिले तो वह दास बन कर रह जाएगा। चूंकि समाज में तरह-तरह की पाबंदियां हैं और व्यक्ति अपनी प्राकृतिक स्वतंत्रता के शुरूआती दौर में नहीं लौट सकता, इसलिए रूसो मनुष्य को अपनी प्राकृतिक स्वतंत्रता का विनिमय नागरिक स्वतंत्रता से करने के लिये कहते हैं। इसके लिए मनुष्य को एक दूसरे से मिल कर संगठन बनाना होगा, जिससे सामाजिक अस्तित्व बनेगा। इसके अन्तर्गत सभी लोग अपने अधिकार त्याग देंगे और उसके बदले में नागरिक के रूप में नये अधिकार प्राप्त कर सकेंगे। एक संविधान की रचना करनी होगी जिसके तहत प्रत्येक व्यक्ति अधीन भी होगा और सहभागी नागरिक भी। हालांकि इस अवधारणा में लोकतंत्र के बीज छिपे हैं परन्तु रूसो जनप्रतिनिधियों द्वारा चलाये जाने वाले लोकतंत्र से सहमत नहीं थे। प्राचीन यूनान के प्रत्यक्ष लोकतंत्र की तरह रूसो का विचार समस्त नागरिकों को एक सार्वजनिक स्थान पर एकत्रित कर कानून निर्माण का मार्ग प्रशस्त करने का था। दूसरी ओर अल्पमत को बहुमत द्वारा लिए गये निर्णय के अधीन होने से बचाने के लिए रूसो ने सर्वसम्मति का पक्ष लिया जिसे उन्होंने अपने सबसे प्रख्यात सिद्धांत 'सामान्य इच्छा' के रूप में प्रतिपादित किया। सामान्य इच्छा के आधार पर रचित कानून के शासन का अर्थ स्वयं अपनी इच्छा का पालन करना है। यह सामान्य इच्छा का सिद्धांत ही आगे चल कर लोकतांत्रिक सिद्धांत को सुदृढ़ बनाने के काम आया

है। अमेरिका और फ्रांस की घटनाओं द्वारा शुरू किए गए क्रांतिकारी युग ने सरकार के साथ संप्रभुता को भ्रमित नहीं किया। रूसो ने यह तर्क दिया कि सामान्य इच्छा को न तो विभाजित किया जा सकता है और न ही अलग-थलग किया जा सकता है। अमेरिकी गृहयुद्ध के दौरान एक विचारक ने कहा था कि 'हमारा एक शुद्ध लोकतंत्र नहीं है, जो कि लोगों द्वारा एक सरकार है, हालांकि यह लोगों की सरकार है। हमारी एक प्रतिनिधि सरकार है, और संविधान के अनुसार प्रतिनिधि द्वारा जो भी किया जाये वही कानून है और जो भी कुछ सरकार को संगठित करने के लिये किया जाये वह लोगों की इच्छा है।'

संप्रभुता का विचार आरंभकाल से ही विवादास्पद रहा है। उदारतावादी लोकतंत्र के समर्थकों ने निरपेक्षवादियों की आलोचना करते हुए कहा है कि लोकतांत्रिक शासन संप्रभुता की धारणा अप्रासंगिक है क्योंकि यह विचार सर्वसत्तावादी अतीत की याद दिलाता है। लोकतांत्रिक सरकारें दमनकारी व्यक्ति द्वारा थोपे जाने वाले शासन द्वारा नहीं चलायी जा सकती। वैसे भी संघात्मक चरित्र वाले आधुनिक राज्यों में आंतरिक संप्रभुता का केंद्र तय करना बहुत मुश्किल है। उदाहरण के लिये अमेरिका, कनाडा और भारत जैसे संघात्मक राज्यों में सरकार दो स्तरों में विभाजित है और प्रत्येक स्तर के पास अपने स्वायत्त अधिकार हैं। इस प्रकार के राज्यों में संप्रभुता केंद्र और प्रांतों के बीच बंटी नजर आती है। ऐसे में संविधान ही है जो केंद्र एवं राज्यों दोनों को संप्रभुता सम्पन्न बनाता है। इसलिये संप्रभुता की लोकतांत्रिक अवधारणा को मजबूत करने के लिए आधुनिक तर्क विकसित किये गये हैं। तर्क की एक महत्वपूर्ण धारा उन तरीकों को लेकर है जिनसे जन सामान्य अपनी इच्छा व्यक्त कर सकते हैं। किसी भी बड़ी लोकप्रिय संसद के लिए सर्वसम्मति बनाना असंभव होगा। फ्रांसीसी क्रांति के समय से ही राजनीतिज्ञ निष्पक्ष तर्कसंगत मतदान प्रक्रियाओं के माध्यम से विधायिका में सामूहिक निर्णय पर पहुंचने के लिए चिंतित रहे हैं। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के वर्षों में, विशेष रूप से लोकतांत्रिक सरकारों की व्यापक रूप से कल्याणकारी नीतियों के संदर्भ में, सामूहिक निर्णय लेने की समस्या से निपटने के लिए सोशल च्वाइस सिद्धांत का एक अनूठा क्षेत्र विकसित हुआ है जिसने संप्रभुता पर हमारी समझ को और बढ़ाया है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया है कि प्रादेशिक संप्रभुता इस धारणा से नहीं बंधी है कि संप्रभुता एक शासक में निहित है जो कानून द्वारा बाध्य नहीं होगा। बुनियादी न्याय की गारंटी देने के लिए, एक वैध राज्य के संविधान में विधि के शासन को सुनिश्चित करने के लिए प्रावधान शामिल होने चाहिए जिसमें शक्तियों का समुचित संतुलन और आवश्यक मानव अधिकारों की सुरक्षा शामिल है। इस बहस में बाह्य संप्रभुता की चर्चा करना प्रासंगिक है। अधिकांश आधुनिक प्रतिनिधि लोकतंत्रों ने आंतरिक रूप से अनेक आत्म-सीमित प्रावधानों को अपना लिया है, जबकि अपने भूभाग पर उनकी संप्रभुता असीम रहती है। अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में बाह्य संप्रभुता किसी राज्य की स्वतंत्रता एवं स्वायत्तता की द्योतक है। आंतरिक संप्रभुता पर तो विवाद चलता रहता है और आगे भी चलता रहेगा, लेकिन अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर राज्य की बाह्य संप्रभुता का आम तौर पर आदर किया जाता है। साइबर युग के प्रसार ने संप्रभुता, विशेष रूप से उसके बाह्य स्वरूप को भी विवादित कर दिया है।

साइबर युग में संप्रभुता : आज सूचना प्रौद्योगिकी का प्रभाव किसी एक व्यक्ति के जीवन पर नहीं, बल्कि पूरे समाज पर व्यापक रूप से पड़ा है। आज चाहे वह निजी क्षेत्र हो या फिर सरकारी कामकाज, मशीनों की मदद से निर्णय लेने का दायरा बढ़ता ही जा रहा है। साइबर क्रांति पूरी दुनिया में फैल चुकी है। इसके गहरे राजनीतिक निहितार्थ भी हैं क्योंकि सार्वभौम निर्णय लेने की क्षमता संप्रभुता की विचारधारा से जुड़ी है। साइबर जगत की कोई

भौगोलिक सीमाएं नहीं हैं। अतः सूचना प्रौद्योगिकी के माध्यम से मशीनों द्वारा किस प्रक्रिया द्वारा निर्णय लिये जाते हैं, उस बारे में अधिक पारदर्शिता और जवाबदेही लाने की आवयकता है। साइबर व्यापकता ने सूचनातंत्र के मूलभूत ढांचे, बौद्धिक संपदा और वित्तीय पूंजी जैसे महत्वपूर्ण संसाधनों पर एक असमानता को जन्म दिया है। एक सर्वस्वीकार्य निगरानी के अभाव में दुनिया की डिजिटल संपत्ति कुछ बड़ी कंपनियों के हाथों में सिमट कर रह गई है। साइबर ने दो अलग-अलग परिकल्पनाओं को जन्म दिया है। जहां एक ओर साइबर संप्रभुता की चर्चा है तो दूसरी ओर साइबर उपनिवेशवाद की बात कही जा रही है। भूमंडलीकरण के इस दौर में यह बहस एशिया और अफ्रीका के विकासशील देशों के संदर्भ में अधिक प्रासंगिक हो गयी है। विकासशील देश साइबर जगत के नियम तय करने की प्रक्रिया में भागीदार बनना चाह रहे हैं क्योंकि उनका यह मानना है कि साइबर जगत के माध्यम से अपनी विकास संबंधी प्राथमिकताएं पूरी नहीं की गई तो संप्रभुता की अवधारणा पर गहरी चोट होगी।

हालांकि साइबर संप्रभुता फिलहाल एक अस्पष्ट परिकल्पना है जिसे प्रायः तकनीक संबंधी प्रवाह पर किसी सरकार के नियंत्रण से जोड़ कर देखा गया है। जहां पर सरकारें साइबर जगत से जुड़े नियम बनाती हैं उसमें कई विवाद भी उत्पन्न हुए हैं। अब जबकि साइबर दुनिया व्यक्तिगत विचारों की अभिव्यक्ति, आर्थिक समृद्धि और राष्ट्रीय सुरक्षा के तत्वों के रूप में उभर रही है तो दुनिया के सभी देश साइबर जगत से जुड़े नियम-कायदों का एक बुनियादी ढांचा विकसित करने का प्रयास कर रहे हैं। इसके लिए राष्ट्रीय स्तर पर कानून भी बनाए जा रहे हैं कि राष्ट्रीय संप्रभुता को सही अर्थों में स्थापित किया जा सके। इस बहस का दूसरा पहलू साइबर उपनिवेशवाद है जिसका अर्थ एक ऐसी प्रक्रिया है जो सूचना-तंत्र की उभरती तकनीकों और संसाधनों को आक्रामक तरीके से नए बाजारों में प्रतिस्थापित करती है। लेकिन इस प्रक्रिया की कमान कुछ गिनीचुनी कंपनियों के हाथ में होती है जो कि अमेरिका या चीन में स्थित हैं। उपनिवेशवाद का यह पहलू साइबर संप्रभुता के क्षेत्र में एक नया आयाम जोड़ देता है। इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप बहुत से देश अपने बाजारों और क्षेत्रीय संस्थानों की मदद से डिजिटल डेटा कंपनियों पर दबाव बना रहे हैं कि उनके देश से जुटाए गये आंकड़े उनकी भौगोलिक सीमाओं के भीतर ही रखे जायें क्योंकि हम अपने देश में संप्रभु हैं। उनकी दलील यह भी है कि ऐसा करने से सरकार वास्तविक अर्थों में अपना प्रभुत्व स्थापित कर नागरिकों के अधिकारों का संरक्षण कर सकेगी।

साइबर जगत सीमाविहीन है, तो दूसरे देशों की सरकारें या गैर सरकारी अभिकर्ता ऐसे अभियान चलाने लगे हैं जिससे लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं की विश्वसनीयता खतरे में पड़ रही है। सरकारों को प्रभावित करने वाले ऐसे अभियानों की मदद से लोगों को अनावश्यक बदनाम करने, उनकी राय प्रभावित करने और सामाजिक राजनीतिक मुद्दों का ध्रुवीकरण करने का काम किया जा रहा है। इससे लम्बे समय से कायम लोकतांत्रिक परंपरा और संस्थाएं कमजोर हो रही हैं। उदाहरण के तौर पर रूस का ऑनलाइन प्रचार तंत्र 2016 के अमेरिकी राष्ट्रपति चुनाव के दौरान काफी सफल सिद्ध हुआ था। अधिनायकवादी चीन द्वारा इसी तरह के साइबर आधारित अभियान अनेक देशों में चलाये जा रहे हैं जिसने साइबर जगत में संप्रभुता की बहस को रोचक बना दिया है। किस प्रकार विदेशी संगठन और सरकारें लोकतांत्रिक परंपराओं को निशाना बना रही हैं, यह बहस अब केवल अकादमिक जगत का हिस्सा नहीं रहकर गंभीर नीतिगत सवालों के रूप में हमारे समक्ष आई है। ऐसे अभियानों के लिए फेसबुक और ट्विटर प्लेटफॉर्म का प्रयोग व्यापक स्तर पर किया जा रहा है। नई तकनीक ने तानाशाही सरकारों को भी साइबर जगत

पर अपना नियंत्रण स्थापित करने के साधन मुहैया कराये हैं। बड़ी कंपनियां सूचना के प्रसार की मुख्य माध्यम बन चुकी हैं, और अपने प्लेटफॉर्म पर उपलब्ध कंटेंट की जवाबदेही से बचने का प्रयास कर रही हैं। कई बार साइबर जगत में अनियंत्रित विचरण करने वाली सामग्री विवादास्पद, झूठी और नफरत फैलाने वाली होती है।

साइबर संप्रभुता और उपनिवेशवाद की परिकल्पनाएं साइबर जगत से जुड़े जटिल मुद्दों को समझाने का आसान तरीका है। जहाँ तक इस क्षेत्र के विकसित हो रहे बौद्धिक दर्शन की बात है तो साइबर संप्रभुता का सकारात्मक अर्थ यह निकाला जाता है कि इसके माध्यम से बड़ी तकनीकी कंपनियों के चंगुल से तमाम विकासशील देश अपने साइबर कारोबार को पुनः प्राप्त कर सकेंगे। लेकिन इसका नकारात्मक पहलू भी नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। साइबर जगत से जुड़े अधिकारों और कर्तव्यों को केवल सरकार तक सीमित कर देना निरंकुशता को जन्म दे सकता है। यदि सरकारें इस अधिकार का दुरुपयोग विपक्षियों पर निगरानी करने या इंटरनेट बंद करने जैसी डिजिटल पाबंदियाँ लगाने के लिये करें तो साइबर संप्रभुता के गलत अर्थ लगाये जा सकते हैं। यही कारण है कि साइबर संप्रभुता को स्वायत्तता से जोड़ा जाने लगा है ताकि संप्रभुता की आड़ में तानाशाही व्यवस्था को आगे बढ़ाने का हथियार नहीं बनने दिया जाये। हमने देखा है कि किस प्रकार चीन ने अपनी भौगोलिक सीमाओं में साइबर जगत को कैद कर अपने नागरिकों की सोच पर काबू पाने की कोशिश की है। इसलिये साइबर संप्रभुता का चीनी मॉडल लोकतांत्रिक अधिकारों और उदारवाद के लिये खतरा माना जा रहा है। इसी तरह साइबर उपनिवेशवाद को दुनिया में उत्तर एवं दक्षिण के विभाजन के साथ जोड़ कर देखा गया है। लेकिन यहाँ भी यह समझना आवश्यक है कि सभी साम्राज्यवादी देश भूमण्डल के उत्तर के देश नहीं हैं। चीन इसकी सबसे बड़ी मिसाल है कि साम्राज्यवादी विचारधारा के पोषक देश दक्षिण में भी मौजूद हैं। इसी प्रकार सारे साइबर उपनिवेश दक्षिण के देश नहीं हैं और न ही उन सबका शोषण हो रहा है।

साइबर संप्रभुता की परिकल्पना इस तथ्य को अनदेखा नहीं कर सकती कि किसी देश का साइबर दृष्टिकोण अपनी आर्थिक, प्रशासनिक, सामाजिक आवश्यकताओं के आधार पर तय होता है। भारत में डेटा संरक्षण की मांग सिविल सोसाइटी की तरफ से उठती है क्योंकि वह साइबर जगत के ऐसे नियम बनाए जाने की पक्षधर है जिससे सरकार उनका दुरुपयोग न कर पाये। दूसरी ओर यूरोपीय संघ में डेटा संरक्षण की मांग का आधार व्यक्ति के निजी अधिकार प्राप्त करना है। लेकिन साइबर संप्रभुता की इस बहस में सबसे बड़ी कमी राष्ट्रीय हितों और बड़ी कंपनियों के हितों को आपस में मिलाकर देखने की है। बहुत सी वैश्विक कंपनियां अपने देशों की सरकारों के साथ कानूनों को लेकर उलझी हुई हैं जिससे वे नागरिकों की निजता में पारदर्शिता लाएं। इसीलिए एशिया और अफ्रीका के विकासशील देशों में साइबर संप्रभुता की अलग-अलग परिभाषाओं से यह बात स्पष्ट है कि साइबर जगत के नियम केवल अमेरिका और चीन की बहस से प्रभावित नहीं होने चाहिये। प्रत्येक देश की अपनी आवश्यकताओं और महत्वाकांक्षाओं के हिसाब से ही साइबर जगत की संप्रभुता तय होगी।

लोकतंत्र का अर्थ केवल व्यक्ति की अभिव्यक्ति या बहुसंख्यकों द्वारा लिये गये निर्णय लेना नहीं है, इसका अर्थ है विधि का शासन। लोकतंत्र में हर समुदाय की भागीदारी सुनिश्चित होने से किसी व्यक्ति विशेष के हाथ में समस्त ताकत नहीं आती जिससे समाज के प्रत्येक वर्ग के अधिकारों का संरक्षण होता है। इसलिये संप्रभुता की सर्वमान्य परिभाषा को ध्यान में रखकर ही लोकतांत्रिक प्रक्रिया पर डिजिटल बदलावों के प्रभाव पर नजर रखी जा सकती है। इसके लिये आवश्यक है कि साइबर जगत में

परिवर्तनों से उत्पन्न बहस की नियमित रूप से समीक्षा होती रहे। साइबर तकनीक के निरंतर विस्तार से सरकारों द्वारा किए जा रहे निरंकुश कार्यों, तकनीकी कंपनियों की बढ़ती क्षमताओं, सोशल मीडिया और फेक न्यूज जैसे तत्वों ने लोकतंत्र की अवधारणा पर एक अंतहीन बहस छेड़ दी है जिसका सीधा असर राज्यों की संप्रभुता पर पड़ रहा है।

सहायक स्रोत

1. स्किनर क्वेंटिन द फाउंडेशन ऑफ मॉडर्न पॉलिटिकल थॉट केम्ब्रिज यूके केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस 1978। **2.** सिम स्टुअर्ट और डेविड वॉकर, द डिसकोर्स ऑफ सॉवरेन्टी, हॉब्स टू फील्डिंग, द स्टेट ऑफ़ नेचर एंड द नेचर ऑफ एडल्टरशॉट, यू.के., एशगेट, 2003। **3.** कसनर, स्टीफन, सॉवरेन्टी आर्गनाइज्ड हिपोक्रैसी प्रिंसटन, प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस 1999। **4.** आगमबेन जियोर्जियो होमो सेकर सॉवरेन पावर एंड बेयर लाइफ स्टैनफोर्ड, स्टैनफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस 1998। **5.** लेविस जेम्स डिजिटल सॉवरेनटी इन द टाइम आफ कॉन्फ्लिक्ट आब्जर्वर रिसर्च फाउंडेशन अक्टूबर 26, 2020। **6.** हैम्पटन ज्यां हॉब्स एंड द सोशल कांटेरक्ट ट्रेडीशन, कैम्ब्रीज यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रीज 1988। **7.** हेल्ड, डेविड, पॉलिटिकल थियरी टूडे, पॉलिटि प्रेस, कैम्ब्रीज 1989। **8.** स्टेफनी पोल्स्की द एण्ड आफ द फ्यूचर गवर्निंग कान्सीक्वेंसेज इन द एज आफ डिजिटल एकेडमिया प्रेस. 2019।

एल-1-ए यूनिवर्सिटी क्वार्टर, जालान रोड
यूनिवर्सिटी ऑफ राजस्थान
जयपुर-302005
मो. -7728891695

आनन्द की खोज

भगवान सत्, चित् व आनंद रूप हैं। वह सच्चिदानन्द हैं। इन तीनों से जुड़ा रहना– इसी का नाम भक्ति है। भक्त निरभिमान है– वह 'है', (सत्), वह होता रहता है– निरंतर विकास करता है, वह प्रकाशस्वरूप है, ज्ञान स्वरूप है, चेतन है यानी 'चित्', पर, इनकी यानी सत् व चित् की सार्थकता आनंद की ओर यात्रा करने में है।

यह आनन्द कभी हमें सुख बन मिलता है, कभी खाने-पीने में, कभी खेल-कूद में, कभी गाने-बजाने में, कभी मोद, प्रमोद, विनोद में– पर, अंत में लगता है– अभी सही रूप में वह नहीं मिला।

कभी लगता है – दुख के भीतर आनंद की तलाश करो। अपना दुख भूल जाओ, दूसरे के दुख को अपना बनाओ। यहाँ सुख की झलक मिलती है। यह सेवा बन जाती है। बुद्ध इसीलिए दुख को प्रथम आर्य सत्य मान कर चले।

'सुख क्या है, दुख को आगे बढ़ लेना ही।' यहाँ हम 'यशोधरा' के स्वर में कहेंगे –

'मेरे दुख में भरा विश्व सुख
क्यों न करूँ फिर मैं हामी।'

बाद में लगेगा आनंद– न बाहर है, न पाने में है, न लाभ में है – वह तो भीतर है – वस्तु से दूर-अपने में पूर्ण भीतर छलक रहा है–

कहाँ ढूंढता है– वह तो है तेरे भीतर।

'काहे री नलिनी! तू कुम्हिलानी, तेरे ही नाल सरोवर पानी।'

अरी कमलिनी! तू क्यों मुरझा रही है, देख – तेरे ही पास आनन्द का सरोवर लहरा रह है।

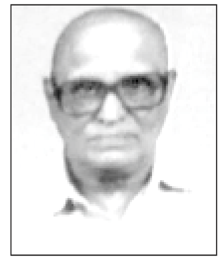

दक्षिण भारत में शास्त्रीय संगीत के संवर्धन में महिलाओं का योगदान

डॉ.एम.शेषन

दक्षिण भारत का शास्त्रीय संगीत 'कर्नाटक शास्त्रीय संगीत' के नाम से जाना जाता है। इस शास्त्रीय संगीत के संवर्धन एवं विकास में यहाँ की महिला कलाकारों का भी अद्‌भुत एवं उल्लेखनीय योगदान रहा है।

उन्नीसवीं शताब्दी में संगीतज्ञों की जीवनी जो हमें उपलब्ध होती है उसमें महिला कलाविदों तथा महिला वाद्य संगीतकारों का कहीं उल्लेख प्राप्त नहीं है।

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में, दक्षिण भारत के दक्ष एवं कुशल महिला कलाकारों की एक लंबी सूची हमें प्राप्त होती है। इन महिला कलाकारों ने अपने सुमधुर कंठध्वनि तथा अपनी कुशलता से अपने युग के संगीत रसिकजनों को मंत्रमुग्ध कर दिया था। इन योग्य, कुशल कलाकारों ने अपने सुमधुर कंठध्वनि एवं माधुर्यपूर्ण गायन-पद्धति से संगीत-रस को प्रवाहित कर श्रोताओं के मन को मुग्ध किया है। उनमें बंगलूरू नागरत्नम्, कोयमुत्तूर, ताथी, कांचीपुरम धनकोटि, भवानी तथा एनादि बहिनों ने बड़े ही अद्‌भुत ढंग से कंठसंगीत का संवर्धन कर अपनी पीढ़ी के रसिक-वृन्दों को रसमग्न करने में अद्‌भुत सफलता प्राप्त की है। आज भी रसिक-वृन्द प्रसन्नतापूर्वक उनकी स्मरण करते हैं। संगीत के इतिहास में आज भी वीणा धनम्माल, उनकी पुत्रियाँ तथा नातिनें अद्‌भुत ढंग से अपनी विशेष गायन शैली से रसिकजनों की वाहवाही प्राप्त कर अमर कीर्ति को प्राप्त हो गयी हैं। उनके पुराने रिकार्डिंग के ग्रामफोन आज भी संगीत रसिकों के स्मरण में ताजा है। उनके अद्‌भुत कंठसंगीत का कोई सानी नहीं है।

दक्षिण भारत और विशेषकर तमिलनाडु के रुढ़िवादी तथा सनातनी ब्राह्मण समूह ने महिलाओं को इस क्षेत्र में आगे आने में बाधा उपस्थित की जिसकी वजह से अनेक कुशल, दक्ष, योग्य तथा होनहार नारियों को इस क्षेत्र में आगे बढ़ने से रोका है। यह दुखदायी स्थिति बनी रही। मगर दृढ़मनस्वी, संगीत, भरतनाट्यम जैसी ललित कलाओं के लिए अपने समस्त जीवन को समर्पित प्रसिद्ध कलाविद रुक्मिणी देवी के अथक परिश्रम की वजह से इस क्षेत्र में उपस्थित बाधा को दूर कर, विशेषकर भरतनाट्यम कला के संवर्धन में उनके अद्‌भुत योगदान के परिणामस्वरूप संगीत, भरतनाट्यम एवं नाटक कला के क्षेत्र में उल्लेखनीय एवं अद्‌भुत विकास देखने में आया। सांस्कृतिक क्षेत्र में उत्साह, निष्ठा तथा

परिश्रम से आगे बढ़नेवाली वह पहली तमिल महिला कलाकार थीं। तमिल ब्राह्मण परिवार की महिला कलाकार डी.के. पट्टम्माल संभवतः पहली संगीतकार थीं जिन्होंने 1930-31 के आसपास संगीत समारोहों के मंच पर उपस्थित होकर अपनी समधुर कंठध्वनि एवं अपार संगीतज्ञान के माध्यम से हजारों श्रोताओं को संगीत का आनंद प्रदान किया था। अपने समय में पट्टम्माल ने बड़ी ख्याति प्राप्त की। देशभक्त भारती के गीतों को लोकप्रिय बनाने में उनका योगदान स्मरणीय रहेगा। उस युग में उनका यह काम साहसपूर्ण तथा अद्‌भुत माना गया। पट्टम्माल की गायन पद्धति पूरे संगीत के क्षेत्र में अद्‌भुत मानी जाती है।

उस युग के महिला कंठसंगीत में निष्णात एवं वाद्ययंत्रों को बजाने में कुशलता प्राप्त महिला कलाकारों में उल्लेखनीय नाम हैं।

एनादि बहिनों के नाम से विख्यात लक्ष्मी-नारायणी, रंगीयम्मा आदि कलाकारों ने अपनी अद्‌भुत श्रुति-लय के ज्ञान तथा गायन की क्षमता से 'जावली' पद्धति के गीतों को गाकर रसिकजनों एवं श्रोताओं को मंत्रमुग्ध करने में ख्याति प्राप्त की। वे अपनी सुमधुर कंठध्वनि के कारण श्रोताओं एवं रसिकों के बीच लोकप्रिय कलाकार बनीं। बालम्मा नामक इस परिवार की कलाकार महिला का, उन दिनों बड़ी ख्याति फैली थी। दुर्भाग्य यह रहा कि वे अपनी चालीसवीं उम्र में इस संसार से चल बसीं। इस कारण उनकी कीर्ति कुंठित हो गयी।

सेलम मीनाक्षी अम्माल एक दूसरी अद्‌भुत कलाविद् मानी जाती हैं जिन्होंने अपनी कुशल दो पुत्रियों एवं नातिनों के कारण कंठसंगीत के क्षेत्र में अभूतपूर्व योगदान दिया। कांचीपुरम् धनकोटि अम्माल और उनकी बहिन कामाक्षी जो प्रसिद्ध नाइना पिल्लै की माता भी थीं, संगीत के क्षेत्र में अपनी क्षमता और योग्यता के कारण ख्याति प्राप्त महिलायें थीं। वे सुप्रसिद्ध वाग्गेयकार श्यामा शास्त्रीजी के गीतों को गाने में कुशल और पटु थीं। धनकोटि अम्माल उन दिनों जबकि माइक और आम्फली फियसू की सुविधा न थी, उस कालखण्ड में हजारों श्रोताओं तथा संगीत रसिकों के मन को आकर्षित करने में सफल रहीं। कोयमुत्तूर तायी एक और नाम है जिसने अपने सुमधुर कंठध्वनि से श्रोताओं के मन में रसधारा प्रवाहित की।

पुराने और नये कलाविदों के मध्य संबंध जोड़नेवाली एक और अद्‌भुत कलाकार थीं बंगलरि नागरत्नम्माक। वे मूलतः नृत्यांगना थीं साथ ही संगीतकार एवं वाग्गेयकार भी रहीं। उन्होंने अपने अथक परिश्रम एवं अद्‌भुत निष्ठा से सुप्रसिद्ध वाग्गेयकार संत त्यागराज स्वामी की पुण्य स्मृति में तिरुवैय्यारू में एक अद्‌भुत समाधि का निर्माणकर अमर कीर्ति के योग्य बनीं। आज भी संगीत के रसिक वृन्द इस बंगलोर नागरत्नम्माक को बड़े आदर और श्रद्धापूर्वक स्मरण करते हैं।

तिरुवारूर राजायी कंठसंगीत के साथ-साथ भरतनाट्यम कला में भी कुशलता प्राप्त कलाकार मानी जाती हैं। मगर वे युवावस्था में ही इस संसार से चल बसीं। वीणा षण्मुखवडिवु एक अद्‌भुत महिला वीणावादक थीं जिन्होंने अपनी योग्यता तथा कला-कौशल से इस क्षेत्र में ख्याति अर्जित कीं। वे सुप्रसिद्ध एवं विश्वविख्यात गायक कलाकार श्रीमती एम.एस. सुब्बलक्ष्मीजी की माता थीं। इसी भांति प्रसिद्ध ललितांगी की सुपुत्री थीं सुप्रसिद्ध कलाविद् एम. एल. वसन्त कुमारीजी।

ई. सन 1940-50 के कालखण्ड में तीन अद्‌भुत महिलायें इस क्षेत्र में आयीं जो कर्नाटक शास्त्रीय संगीत के क्षेत्र में विख्यात हो गयीं। वे हैं श्रीमती डी.के. पट्टम्मक, श्रीमती एम.एस. सुब्बलक्ष्मी और श्रीमती एम. एल. वसन्तकुमारजी। ये तीनों नारियाँ गृहिणियाँ थीं और तमिलनाडु में ही नहीं समस्त दक्षिण भारत भर में ख्याति अर्जित की। दक्षिण भारत के अलावा भारत भर में इन तीनों गायक

कलाकारों के लिए लाखों रसिकजन हैं उस कालखण्ड में इन तीनों कलाकारों को मात करनेवाले दूसरे कोई कलाकार नहीं रहे।

श्रीमती एम.एस. सुब्बलक्ष्मीजी लगभग पाँच दशक तक अपने क्षेत्र में फैली रही। स्वातंत्र्योत्तर भारत में वे अकेली नारी थीं जिनके लाखों-करोड़ों रसिकवृन्द देशभर में फैले हुए हैं। सुप्रसिद्ध हिन्दुस्तानी शास्त्री संगीतकार 'बड़े गुलाम अलीखाँ' तो एम.एस. सुब्बलक्ष्मी जी सुमधुर कंठध्वनि, उनके अपार स्वर-ज्ञान तथा गायन की पद्धति से अति मुग्ध होकर मंच पर कहा 'शुभलक्ष्मीजी!! आप तो स्वर लक्ष्मी जी हैं!! आपके संगीत एवं गायन की पद्धति का कोई सानी नहीं है। मैं आपके सामने नतमस्तक हूँ।' भारत के प्रधानमंत्री रहे पंडित जवाहरलालजी नेहरू ने सुब्बलक्ष्मी के सुमधुर गीतों से मुग्ध होकर उन्होंने 'संगीत सम्राज्ञी' की उपाधि से विभूषित किया था।

सुब्बलक्ष्मी जी कर्नाटक शास्त्रीय संगीत को विश्वभर में प्रसारित करने में कोई सानी नहीं रखती थीं। भारत की अमर कीर्ति और यश को अपने सुंदर गायन द्वारा फैलानेवाली अकेली विदुषी गायिका थीं। अपने गायन की प्रतिभा, अद्‌भुत कौशल तथा अथक परिश्रम से कर्नाटक शास्त्रीय संगीत को उच्च कोटि तक पहुंचायी थी। लगभग 87 साल की उम्र तक जीवित रहकर उन्होंने संगीत ज्ञान को शिखर तक पहुंचाया था। भावपूर्ण ढंग से भक्तिगीत गाने की उनकी अद्‌भुत शैली की श्रेष्ठता को दूसरा कोई कलाकार प्राप्त नहीं कर सका। यही उनकी महानता और श्रेष्ठता का रहस्य है।

श्रीमती डी.के. पट्टम्माक दूसरे प्रकार की गायिका थीं। सुप्रसिद्ध गायक कलाकार अरियक्कुड़ि रामानुज अय्यंगार की शिष्या होने के कारण लगभग आधी शताब्दी तक वे अय्यंगार की गायन-पद्धति का अनुकरण करते हुए श्रोता और रसिकों को अपने शास्त्र ज्ञान तथा सुमधुर कंठध्वनि से रसिकजनों के मन को मंत्रमुग्ध कर देती थीं। एम.एस. सुब्बलक्ष्मीजी के समान वे भी संगीत की बारीकियों और सूक्ष्मताओं को जानने, समझने में तथा अपने कौशल से उसकी अभिव्यक्ति के कारण विख्यात थीं। पल्लवी शैली के गायन की पद्धति में वे अपना सानी नहीं रखती थीं। सुप्रसिद्ध वाग्गेयकार मुत्तुस्वामी दीक्षितर के गीतों को लोकप्रिय बनाने में उनका बड़ा योगदान रहा।

ललितांगो की सुपुत्री श्रीमती एम.एल. वसन्त कुमारजी इन तीनों उच्च कोटि के गायकों में कनिष्ठ थीं। सुप्रसिद्ध गीतकार जी. एन. बालसुब्रह्मणयमजी की प्रिय शिष्या रहीं। गीतों की भावपूर्ण प्रस्तुति में उनकी अद्‌भुत शैली देखने लायक है। शास्त्रीय संगीत का ज्ञान उनके लिए भगवान का वरदान सिद्ध हुआ और अपने शास्त्रीय ज्ञान तथा गायन शैली से लाखों रसिकों का वे कंठहार बनी रहीं। भारत भर में उनकी ख्याति फैली रही।

अन्य महिला गायकों में उल्लेखनीय नाम है बृन्दा, मुक्ता वेदवल्ली तथा मणिकृष्णस्वामी। ये तीनों महिलायें ने अपने-अपने क्षेत्र में प्रसिद्ध गायक कलाकार मानी जाती हैं। तमिलनाडु में संगीत के विकास में योगदान देनेवाली प्रसिद्ध संस्था 'म्यूजिक अकादमी' ने इनको 'संगीत कलानिधि' की सर्वोच्च उपाधि से अलंकृत कर सम्मान प्रदान किया।

समकालीन तमिल सामाजिक परिवेश में एक नयी अगली पीढ़ी के युवा कलाकारों का उदय देखने को मिलता है। उन युवा कलाकारों का इस क्षेत्र में प्रवेश इस बात का सूचक है कि यहाँ संगीत के क्षेत्र में युवा पीढ़ी की एक नयी जागृति होने लगी है जो शुभसूचक है। शास्त्रीय संगीत का भविष्य इन उभरती नयी पीढ़ी की क्षमता, योग्यता एवं कौशल पर निर्भर है। उन कलाकारों के उल्लेखनीय नाम हैं श्रीमती सुधा रघुनाथन, सौम्या, बाम्बे जयश्री, गायत्री गिरीश, नित्यश्री महादेवन जिनसे भविष्य की आशा बंधती है। कंठ संगीतकारों के वीणावादन, वायोलिन,

मृदंगवादन, घटम यहां तक नादस्वरम् जैसे कठिन वाद्ययंत्रों को बजाने में भी आज महिला कलाकारों ने महारथ हासिल की है। रेडियो, टीवी तथा संगीत समारोहों में इनका प्रसारण होता है। समकालीन इन महिला कलाविदों के आगमन के कारण शास्त्रीय संगीत का भविष्य बहुत उज्ज्वल होगा ऐसी आशा पनप रही है।

कर्नाटक शास्त्रीय संगीत के क्षेत्र में तीन महत्त्वपूर्ण वाग्गेयकारों का नाम प्रसिद्ध है। वे हैं संत त्यागराज स्वामीजी, मुत्तुस्वामी, दीक्षितर तथा श्यामा शास्त्रीजी। इन तीनों ने सैकड़ों भक्तिपरक गीतों की रचनाकर शास्त्रीय संगीत के क्षेत्र में ख्याति अर्जित की है। इनके रचित गीतों को लोकप्रिय बनाने में हमारे संगीतज्ञों का महत्त्वपूर्ण योगदान सर्व स्वीकृत है। एक बात का ध्यान हमें रखना होगा कि दक्षिण भारत के शास्त्रीय संगीत सौ फीसदी भक्तिपरक है उसमें शृंगारपरक गीत एक भी आपको नहीं मिलेगा। यही दक्षिण शास्त्रीय संगीत परंपरा की विशिष्टता मानी जायेगी।

भरतनाट्यम्, मोहिनी आट्टम्, कुच्चिपूडि शैली आदि विभिन्न नृत्यशैली में यहां की महिलाओं ने महारथ हासिल की है। नयी पीढ़ी में इसके प्रति एक नया उमंग और उत्साह जागृत हुआ है जिसके कारण यह नाट्य-नृत्यकला दिनोदिन लोकप्रिय होती जा रही है। इसका भी भविष्य उज्ज्वल दीखता है। अड़ैयार स्थित 'कलाक्षेत्रम' का इस कला के संवर्धन एवं विकास में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। श्रीमती रुक्मिणी अरुण्डेल की साधना, निष्ठा एवं उमंग के कारण वर्तमान पीढ़ी की महिलायें इस क्षेत्र में उत्साह प्रदर्शित करने लगी हैं जिससे भविष्य में आशा बंधती है।

अंत में कर्नाटक शास्त्रीय संगीत का अपना एक महत्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय उद्देश्य एवं ध्येय है। वह है आध्यात्मिक उत्कर्ष तथा भावानुभूति के माध्यम से ईश्वरत्व की चेतना को श्रोताओं एवं रसिकजनों के मन में जगाकर मानसिक धरातल को इस उत्कर्ष तक पहुंचाने में सहायक होना। श्रीमती एम.एस. सुब्बलक्ष्मी की अमर कीर्ति एवं लोकप्रियता का यही मुख्य कारण माना जाता है। इसी वजह से संगीत के क्षेत्र में उनकी कीर्ति और महत्ता अमर बन चुकी है।

(सेवानिृत्त हिन्दी प्रोफेसर)
Guru Kripa
790 Dr. Ramaswamy Salai
K.K. Nagar (West)
Chennai-600078
Mob. 9840848559

●

प्रतिभा के साथ जब शुभ निष्ठा एवं लगन का सामंजस्य हो जाता है तो व्यक्ति के गुण कस्तुरी की गंध में बोलने लगते हैं। - ऋग्वेद

जिस तरह मोमबत्ती के बिना आग नहीं जल सकती उसी तरह आध्यात्मिकता के बिना जीवन नहीं चल सकता है। -महात्मा बुद्ध

धार्मिक व्यक्तियों का जागृत रहना श्रेयस्कर है और अधार्मिक जनों का सुप्त रहना। -वृहत्कल्प भाष्य

पाठक-मंच

नाग-पंचमी और नाग

पौराणिक संदर्भों के अनुसार नाग कश्यप तथा कद्रु के पुत्र थे। ये मेरु कर्णिका में रहते थे और वरुण की सभा के सभासद थे। इनके नाम हैं - अनंत, वासुकि, तक्षक, कर्कोटक, पद्म, महापद्म, शंख तथा कुलिक। ये आठों प्रमुख सर्प अष्टकुली नाग कहलाते हैं। इनके कारण त्रैलोक्य में बहुत उपद्रव होने लगे तब ब्रह्मा ने इन्हें श्राप दिया कि जनमेजय के नागयज्ञ में तुम सपरिवार नष्ट हो जाओ। पर इन लोगों की विनती से द्रवित होकर शाप का परिहार कर दिया गया। जिस दिन ये सब ब्रह्मा के पास प्रार्थना करने गये थे, वह श्रावण शुक्ल पंचमी थी और अब यह नाग पंचमी के नाम से प्रसिद्ध है।[1] भारत भर में इस दिन नाग देवता की पूजा की जाती है। नाग पंचमी की व्रत कथा में उपासिका लड़की मांगती है[2] कि 'जो आज के दिन नागों की पूजा करे, उसको कभी नाग के डसने की बाधा न हो।'

नाग पूजा की परंपरा हमारे देश में प्राचीन समय से चली आ रही है। सिंधु-घाटी में मिले अवशेषों में एक ऐसी विचित्र मुहर भी मिली है जिसपर नाग की दो आकृतियां बनी हुई हैं। नाग वास्तव में भारत के प्राचीनतम निवासियों में से हैं और नाग या सर्प इनका प्रतीक चिह्न (टोटम)[3] था। जिससे ये नाग जाति के कहलाते थे जो सर्पपूजक थे और आर्यों के आगमन के समय भारत के उत्तरी प्रदेशों पर इन्हीं का आधिपत्य था।[4] नाग लोगों का 'अनुवांशिक पावन प्रतीक' नाग (सर्प) ही था। इस स्थिति के फलस्वरूप भारतीय कथा-साहित्य में बड़ा रंगीन वातावरण उपस्थित हो गया है।[5] जनसाधारण ने नाग (मानव) और नाग व सरीसृप सर्प को एक ही मान लिया। नागों और आर्यों का संबंध पुरातन और नाना विध रहा है। अनेक आर्यपूर्व जातियों की तरह नागों के साथ भी आर्य राजाओं और ऋषियों के विवाह संबंध का पता पुराने ग्रंथों से चलता है। इन विवाहों से उत्पन्न संताने वैध होती थी।[6] कद्रु पुत्र नागों के वंश में उत्पन्न अर्बुद नामक ऋषि ऋग्वेद के दसवें मंडल के एक सूक्त के रचयिता बताये गये हैं। आर्यों और नागों के बीच बहुत दिनों तक संघर्ष और सम्मिलन का दौर चलता रहा। बहुत बाद के इतिहास में भी नाग राजाओं का परिचय मिलता है। नागौर (राजस्थान), नागपुर (विदर्भ), अहिछत्रपुर नामक नगर किसी समय नागों की राजधानियां थीं।[7]

कथासरित्सागर में वासुनेमि नाग द्वारा उदयन को वीणा, ताम्बूल तथा कभी न मुरझाने

वाली माला भेंट किये जाने का उल्लेख है।[8] वासुनेमि ने भी उदयन को कभी मलिन न होने वाले तिलक की विधि समझाई थी। उदयन ने किसी सांप को संपेरे द्वारा पकड़े जाने से बचाया था। वही सांप अपने रक्षक उदयन के सामने वासुनेमिनाग के रूप में प्रकट हुआ। पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश साहित्य भी संस्कृत की भांति ही नाग कथाओं से भरा पड़ा है। प्राचीन संस्कृति के अध्येताओं ने वीणा, ताम्बूल, पान (नागरबेलि का पान या नागबल्लि) आदि को नागों की देन स्वीकार किया है। छन्द-शास्त्र के प्रणेता के रूप में पिंगल नामक नागराज का उल्लेख मिलता है।[9] छन्दों का सर्वप्रथम विवेचन करनेवाला पिंगल नाग हुआ।

प्रतीक-शास्त्र के अनुसार सर्प वीर के रूप में माना जाता रहा है। नाग को रक्षक के रूप में भी ग्रहण किया गया है। यक्ष, नाग, गंधर्व, किन्नर आदि आर्येतर समुदायों के प्राचीन वर्गों के रहे हैं। यक्षों को समृद्धि का प्रतीक और रक्षक के रूप में ग्रहण किया गया है।[10] नाग आर्येतर थे उन्हें भी रक्षक के रूप में ग्रहण किया गया है। लोक में नागों का रक्षक रूप दो प्रकार से व्यक्त हुआ है -(1) किसी व्यक्ति की अपने फन को फैलाये बरसात से उसकी रक्षा कर रहा था। (2) संपत्ति की रक्षा- लोक विश्वास है कि जहां नाग की बांबी है, वहां अवश्य धन होगा। नाग संबंधी अवधारणायें गहरी जड़ें जमा चुकी हैं। जहां कहीं विदेशों में भारतीय संस्कृति ने प्रसार पाया जैसे चीन, जापान, श्रीलंका, कम्बोडिया, श्याम, खुत्तान, मलय आदि,[11] वहां भी नागपूजा का प्रभाव देखने को मिलता है। नाग-पूजा के ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, जैविक तथा सभी पक्ष विस्तृत हैं।

संदर्भ

1. हिंदी कथा कोष-पृ.11। **2**. कुंवर कन्हैयाजू- हिंदूओं के व्रत और त्यौहार-पृ.52। **3**. क्युरेटर कच्छ म्युजियम से चर्चा के आधार पर। **4**. बिल ड्यूरुं- सभ्यता की कहानी (भाग-2) पृ.12। **5**. मनोहर शर्मा- लोक-साहित्य की सांस्कृतिक परंपरा - पृ. 57। **6**. हजारी प्रसाद द्विवेदी- विचार और वितर्क-पृ.148। **7**. दशरथ शर्मा- प्राचीन चौहान राजवंश। **8**. कथा सरित्सागर/2/1। **9**. नरोत्तम स्वामी -वेलि क्रिसन रुक्मणी री- प्रस्तावना-पृ.-7। **10**. वासुदेव शरण अग्रवाल - प्राचीन भारतीय लोकधर्म-पृ.-63। **11**. भगवत शरण उपाध्याय-भारतीय संस्कृति के विस्तार की कहानी।

-डॉ. गोवर्धन शर्मा
ज्ञान लोक, प्लॉट नं- 34
सेक्टर-19, गांधीनगर गुजरात-382019
फोन 079-23220051

राजतरंगिणी में कश्मीर के शासकों की सूची

कश्मीर के इतिहास में कश्मीरी कवि कल्हण की राजतरंगिणी अत्यंत महत्व का ग्रंथ है। कल्हण के पहले सुव्रत, क्षेमेन्द्र, हेलाराज, नीलमुनि, पद्ममिहिर और छविल्लभट्ट आदि ग्रंथकार हुए हैं, किन्तु इनमें से कई के ग्रन्थ अप्राप्य हैं। कल्हण ने लिखा है कि हेलाराज ने बारह हज़ार ग्रन्थ कश्मीर के राजाओं के वर्णन के एकत्र किए थे। नीलमुनि का लिखा नीलमतपुराण भी प्रकाशित हो गया है। कल्हण ने जयसिंह के शासन काल (1127-1154 ई.) में 1148 में राजतरंगिणी की रचना की जिसमें ईसा पूर्व 3238 से 1154 ईस्वी तक के कश्मीर के शासकों के नाम सूचीबद्ध है। कल्हण कश्मीर के प्रधानमंत्री चम्पक के पुत्र थे (यह परिवार सातवाहन वंश की एक शाखा रहा होगा) और इसी कारण कल्हण को इस ग्रन्थ के लेखन के लिए प्रचुर सामग्री सहज ही में मिल गई थी। नीलमतपुराण को छोड़कर शेष 11 इतिहास-ग्रन्थ उसने देखे थे। यही नहीं, कल्हण ने घोषणा की है कि उसने शासनपत्रों, दानपत्रों का भी प्रयोग इस ग्रन्थ के लेखन में किया। बाद में जोनराज (1389-1459) ने 1412 ई. में राजावली नामक ग्रन्थ लिखकर कल्हण से लेकर अपने काल तक के राजाओं का उसमें वर्णन किया। फिर उसके शिष्य वरदराज ने 1477 ई. में एक और ग्रन्थ लिखा। अकबर के समय (1542-

1605 ई.) में प्राज्यभट्ट ने इस इतिहास का चतुर्थ खण्ड लिखा। इस प्रकार चार खण्डों में कश्मीर का इतिहास संस्कृत में श्लोकबद्ध विद्यमान है।

कश्मीर में पंजाब के महाराजा रणजीत सिंह के शासनकाल में जॉन मैकफेयर नामक यूरोपीय विद्वान् ने कश्मीर से पहले-पहल इस ग्रन्थ राजतरंगिणी का संग्रह किया। एच. एच. विल्सन (1786-1860), विन्सेंट आर्थर स्मिथ (1848-1920) आदि कई पाश्चात्य लेखकों ने भी इस पुस्तक में वर्णित विषय की बड़ी प्रशंसा की है और विल्सन ने एशियाटिक रिसर्चेज में इस ग्रन्थ के प्रथम छह सर्गो का अनुवाद भी प्रकाशित किया था। 1840 में इस ग्रन्थ का प्रकाशन पेरिस से भी हुआ था। जनश्रुति है कि प्राचीन समय में कश्मीर की घाटी पहाड़ों से घिरी एक विशाल झील थी, जिसे कश्यप ऋषि ने सुखाकर रहने योग्य बनाया था। जब कश्मीर घाटी से जलराशि बह गई, तब कश्यप ने ब्राह्मणों को वहां बसने के लिए कहा। इस तरह कश्मीरी पंडितों ने घाटी में बसना शुरू कर दिया। कश्यप के नाम पर कश्यप-मेर अर्थात कश्मीर हुआ।

राजतरंगिणी में उल्लिखित विवरणों से भारत के प्राचीन इतिहास की अनेक घटनाओं और व्यक्तियों पर काफी प्रकाश पड़ता है। आधुनिक हिंदी के पितामह भारतेन्दु हरिश्चंद्र (1850-1885) ने 1884 में 'कश्मीर-कुसुम' शीर्षक से कश्मीर के इतिहास पर एक बड़ा निबंध लिखा था जो द मेडिकल हॉल प्रेस, वाराणसी से प्रकाशित हुआ था। इस लेख में भारतेन्दु बाबू ने राजतरंगिणी के आधार पर कश्मीर के राजाओं की सूची दी थी। इसके बाद प्रसिद्ध इतिहास-संशोधक पं. कोटावेंकटचलम (1885-1959) ने कश्मीर-राजवंशावली पर काफी कार्य किया और उन्होंने कश्मीर के विभिन्न राजवंशों के क्रमानुसार राजाओं का पूरा ब्योरा क्रोनोलोजी ऑफ़ कश्मीर हिस्ट्री रिकन्सट्रक्टेड (1955) के पृ. 90 से 101 में दिया है।

पं. कोटावेंकटचलम ने 'क्रोनोलोजी ऑफ़ कश्मीर हिस्ट्री रिकन्सट्रक्टेड' में बताया है कि इसमें महाभारत से पूर्व हुए मथुरा के श्रीकृष्ण-जरासंध युद्ध, महाभारत-युद्ध और महाभारत के बाद की कश्मीर की ही नहीं भारत की विभिन्न ऐतिहासिक घटनाओं, यथा-परीक्षित की कश्मीर-विजय, परीक्षित की मृत्यु, गौतम बुद्ध का निर्वाण, कनिष्क का राज्यारोहण आदि का उल्लेख भी मिलता है। पं. कोटावेंकटचलम ने इस पुस्तक में अशोक, कनिष्क आदि के समय का पौराणिक समीकरण स्थापित करने में उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की है और भारतीय इतिहास का एक वैकल्पिक तिथिक्रम प्रस्तुत किया है। राजतरंगिणी में दिए गए अनेक ब्योरों की पुष्टि भारतीय पुराणों में उल्लिखित ब्योरों से भी हो जाती है, किन्तु भारत के इतिहास-लेखन में इस पुस्तक का कोई भी सहयोग नहीं लिया गया। उलटे फ्लीट आदि के द्वारा इसमें उल्लिखित तथ्यों को हर प्रकार से अप्रामाणिक सिद्ध करने का प्रयास किया गया।

राजतरंगिणी में कश्मीर का इतिहास महाभारत-युद्ध (3138 ई. पू.) से 312 वर्ष पूर्व, यानि 3138 अ312 उ 3450 ई.पू. से 1148 ई. ('राजतरंगिणी' के रचनाकाल) तक का इतिहास सुलभ है। इस तरह कश्मीर का इतिहास 5,400 वर्षों से भी अधिक पुराना है। 3450 ई. पू. से 3238 ई. पू. के दौरान हुए 5 राजाओं के नामों का उल्लेख कल्हण ने नहीं किया है और 'गोनन्द' या 'गोनर्द' प्रथम से राजाओं की सूची प्रारम्भ की है। गोनंद प्रथम मगध-नरेश जरासंध का रिश्तेदार था और युधिष्ठिर का समकालीन था। वह कृष्ण के बड़े भाई बलराम द्वारा मारा गया था। उसके पुत्र दामोदर प्रथम को कृष्ण और उनकी सेना ने मार डाला था और कृष्ण ने 6 महीने के लिए उसकी पत्नी यशोवती को अस्थायी शासिका बनाया, बाद में उसके बेटे गोनंद द्वितीय को सत्ता प्राप्त हुई। इस गोनंद द्वितीय को 3083 ई.पू. में हस्तिनापुर के राजा परीक्षित (अर्जुन के पोते) के साथ एक लड़ाई में मार दिया गया था। गोनंद द्वितीय का कोई उत्तराधिकारी

नहीं होने के कारण, परीक्षित ने कश्मीर राज्य पर अधिकार कर लिया और इसे अपने साम्राज्य में शामिल कर लिया और पश्चात इसे अपने एक परिवार-जन हरदेवदेव को सौंप दिया। हरदेवदेव से, पांडव-वंश के राजाओं ने 3031 से 1752 ई.पू. तक 1331 वर्षों तक कश्मीर पर शासन किया। प्रस्तुत है कल्हण द्वारा 'राजतरंगिणी' में दी गई कश्मीर के राजाओं की सूची-

1. गोनन्द प्रथम (3238-3188 ई.पू.), 2. दामोदर प्रथम (3188-3140 ई.पू.), 3. यशोवती (दामोदर प्रथम की पत्नी 3140-3139 ई.पू.), 4. गोनन्द द्वितीय (यशोवती का पुत्र 3139-3083 ई.पू.), 5. परीक्षित (3083-3041 ई.पू.), 6. हरदेवदेव, 7. रामदेव, 8. व्यासदेव, 9. दारुणदेव, 10. सिंहदेव, 11. गोपालदेव, 12. विजयानंद, 13. सुखदेव, 14. रामानंद, 15. संधिमन, 16. महाराणदेव और कामदेव, 17. चंद्रदेव, 18. आनंददेव, 19. द्रुपददेव, 20. हरनामदेव, 21. सुलकनदेव, 22. सिनादित्य, 23. मंगलादित्य, 24. क्षेमेंद्र, 25. भीमसेन, 26. इंद्रसेन, 27. सुंदरसेन, 28. गलगेंद्र, 29. बलदेव, 30. नलसेन, 31. गोकर्ण, 32. प्रह्लाद, 33. बमब्रू, 34. प्रतापशील, 35. संग्रामचन्द्र, 36. लारिकचन्द्र, 37. बीरमचंद्र, 38. बाबिघना, 39. भगवंत, 40. लव (1752-1713 ई.पू.), 41. कुश (1713-1674 ई.पू.), 42. खगेंद्र (1674-1635 ई.पू.), 43. सुरेन्द्र (समस्या रहित, 1635-1596 ई.पू.)। 44. गोधरा (एक अन्य परिवार, 1596-1557 ई.पू.), 45. सुवर्ण (1557-1518 ई.पू.), 46. जनक (1518-1479 ई.पू.), 47. शचिनारा (जनक के काका का बड़ा पोता, 1479-1448 ई.पू.)। 48. अशोक या धर्माशोक (गोनंद-राजवंश, 1448-1400 ई.पू., इसने अपना राज्य खो दिया, क्योंकि म्लेच्छों ने उस पर कब्जा कर लिया और वह जंगल में भाग गया, इसके बेटे जेलौक ने इसे पुनः प्राप्त किया), 49. जेलौक (1400-1344 ई.पू.), 50. दामोदर द्वितीय (1344-1294 ई.पू.), 51. हुष्क, जुष्क और कनिष्क (1294-1234 ई.पू.), 52. अभिमन्यु (1234-1182 ई.पू.)।

धर्माशोक जो गोनंद-राजवंश के थे और बौद्ध-धर्म अपनाकर पापों से मुक्त हो गए, ने 1448-1400 ई.पू. के दौरान कश्मीर की राजधानी श्रीनगर शहर का निर्माण किया, जिसमें 99 लाख घर थे, जो धन-संपत्ति से परिपूर्ण थे। वह भी एक कवि थे। कालांतर में धर्माशोक के वंशज गोनंद तृतीय और उसके वंशजों ने 1182 ई.पू. से 272 ई.पू. तक, कुल 910 वर्ष राज किया। 53. गोनंद तृतीय (1182-1147 ई.पू.), 54. विभीषण (1147-1092 1/2 ई.पू.), 55. इंद्रजीत (1092 1/2-1057 ई.पू.), 56. रावण (1057-1027 ई.पू.), 57. विभीषण द्वितीय (1027-991 ई.पू.), 58. किन्नर या नार (991 1/2-952 ई.पू.), 59. सिद्ध (952-892 ई.पू.), 60. उत्पलक्ष (892-861 1/2 ई.पू.), 61. हिरण्याक्ष (861 1/2-824 ई.पू.), 62. हिरण्यकुल (824-764 ई.पू.), 63. वसुकुल (764-704 ई.पू.), 64. मिहिरकुल (704-634 ई.पू.), 65. बाका (634-594 ई.पू.), 66. क्षितिनन्दन (594-564 ई.पू.), 67. वसुनन्दन (564-512 ई.पू.। वसुनन्दन कवि थे और इन्होंने 'समरशास्त्र' की रचना की थी।), 68. नर (512-477 ई.पू.), 69. अक्ष (477-417 ई.पू.), 70. गोपादित्य (417-357 ई.पू.। गोपादित्य ने 367-366 ई.पू. में आद्य शंकराचार्य का मंदिर बनवाया था। उन्होंने कई मंदिरों और अग्रहारम की स्थापना की। वह एक कवि भी थे।), 71. गोकर्ण (357-322 ई.पू.), 72. किंखिल या नरेंद्रादित्य (322-285 ई.पू.), 73. अंध युधिष्ठिर (285-272 ई. पू., छोटी आंखों वाले होने के कारण उन्हें लोगों द्वारा अंध-युधिष्ठिर कहा जाता था, वास्तव में वे अंधे नहीं थे।)। 74. प्रतापादित्य (272-240 ई.पू.। प्रतापादित्य के वंश ने 272 से 80 ई.पू. तक 6 राजाओं ने कुल 192 वर्ष राज्य किया, इस 74वें राजा प्रतापादित्य का उल्लेख राजतरंगिणी में विक्रमादित्य के एक रिश्तेदार के रूप में किया गया है, उन्हें मंत्रियों

द्वारा दूर देश से लाया गया था और कश्मीर के सिंहासन पर बिठाया गया था। यह विक्रमादित्य 457 ई.पू. में उज्जैन का शासक श्रीहर्ष विक्रमादित्य होना चाहिए। कल्हण का कहना है कि यह विक्रमादित्य 57 ई.पू. का शकारि विक्रमादित्य नहीं था।), 75. जलौकस (240-208 ई.पू.), 76. तुन्जिन (208-172 ई.पू.), 77. विजय (172-164 ई.पू.), 78. जयेन्द्र (164-127 ई.पू.), 79. संधिमती (127-80 ई.पू.)। 80. मेघवाहन (80-46 ई.पू.), 81. प्रवरसेन या श्रेष्ठसेन (46-16 ई.पू.), 82. हिरण्य (16 ई.पू.-14 ई.। हिरण्य का निस्संतान ही देहान्त हो गया था। वह तोरमान का बड़ा भाई था, जो अपनी पत्नी और बेटे के साथ निर्वासन में था।), 83. मृगपुत्र (14-19 ई.। इन्हें उज्जैन के सम्राट विक्रमादित्य ने कश्मीर के राजा के रूप में भेजा था।), 84. प्रवरसेन द्वितीय (तोरमान का पुत्र, 19-79 ई.), 85. युधिष्ठिर द्वितीय (79-118 ई.। यह शालिवाहन-संवत् के प्रवर्तक महाराज शालिवाहन का समकालीन था), 86. लक्ष्मण या नरेंद्रादित्य (118-131 ई.), 87. तुन्जिना या रणादित्य (कवि, 131-173 ई.), 88. विक्रमादित्य (173-215 ई.)। 89. बालादित्य (215-252 ई.। इस कर्कोटक-राजवंश के कुल 17 राजाओं ने 600 वर्षों तक शासन किया), 90. दुर्लभवर्धन (बालादित्य का दामाद, 252-288 ई.), 91. दुर्लभका या प्रतापादित्य (288-338 ई.), 92. चंद्रपीड़ या वर्णादित्य (338-397 ई.), 93. तारापीड़ या उदयादित्य (397-431 ई.), 94. ललितादित्य या मुक्तापीड़ (कवि, 431-467 ई.। इन्होंने कश्मीर में प्रसिद्ध मार्तण्ड (सूर्य) मंदिर का निर्माण कराया।), 95. कुवलयादित्य (467-468 ई.), 96. वज्रादित्य या ललितापीड़ (468-525 ई.), 97. पृथिव्यापीड़ (525-569 ई.), 98. संग्रामपीड़ प्रथम (569 ई., केवल 7 दिनों तक शासन किया), 99. जयपीड़ (पंडित और कवि, 569-620 ई.), 100. ललितापीड़ (620-672 ई.), 101. संग्रामपीड़ द्वितीय (672-729 ई.), 102. जयपीड़ (729-781 ई.), 103. अजीतापीड़ (781-837 ई.), 104. अनंगपीड़ (837-840 ई.), 105. उत्पलपीड़ (840-845 ई.), 106. सुखवर्मा (845-852 ई.)।

उत्पल-राजवंश : 107. अवंतिवर्मा (852-880 ई.। इनके दरबार में आनंदवर्धन, रत्नाकर जैसे कई विद्वान शोभायमान थे।), 108. शंकरवर्मा (880-900 ई.। उत्तरज्योतिष, दिव्यकटक और सिंहपुर, जो अब अफगानिस्तान का हिस्सा हैं, में यवनों के ब्राह्मण राजा लल्यसाही के समकालीन), 109. गोपालवर्मा (नाबालिग, जिनकी मां सुगंधा ने शासन किया 900-902 ई.), 110. संकट, 111. सुगंध, 112. सूरवर्मा (902-904 ई., इन सभी 3 ने केवल 2 वर्षों तक शासन किया), 113. पार्थ (904-918 ई.), 114. निर्जीतवर्मा (918-920 ई.), 115. चक्रवर्मा (920-934 ई., इनकी हत्या हो गई थी), 116. उन्मत्तिवर्मा (934-936 ई.)।

कश्मीर के गुप्त-ब्राह्मण राजा : 117. यसस्कर (936-945 ई.), 118. वर्णत (1 महीना), 119. संग्रामदेव (5 महीने, 945-946 ई.), 120. पर्वगुप्त (946-948 ई.पू.), 121. क्षेमगुप्त (948-957 ई.), 122. अभिमन्युगुप्त (957-971 ई.। अभिमन्यु नाबालिग था, अतः मां दिद्दा या क्षेमगुप्त की पत्नी दित्था देवी द्वारा शासन किया गया। दिद्दा लल्याशाही के वंशज काबुल के भीमशाही की समकालीन थीं और भीमशाही की पोती थीं।), 123. नंदीगुप्त (दिद्दा का दूसरा पुत्र (971-972 ई.), 124. त्रिभुवनगुप्त (दिद्दा का तीसरा पुत्र 972-974 ई.), 125. भीमगुप्त (दिद्दा का चौथा पुत्र, 974-979 ई.। सभी बेटे नाबालिग थे। अतः माँ दिद्दा द्वारा शासन), 126. दिद्दा या दित्था (979-1012 ई.। दिद्दा लोहार के सिंहराज की पुत्री और क्षेमगुप्त की पत्नी थीं। यह लोहार-परिवार आंध्र-सातवाहन वंश का था। यह सिंहराज काबुल के भीमशाही के दामाद हैं, जो थोमारा राजवंश के थे, जो चार अग्निवंशियों में से एक थे। इन दस ब्राह्मण-राजाओं ने 76 वर्षों तक शासन किया।)।

लोहार वंश (छह राजाओं ने 98 वर्षों तक शासन किया) : 127. संग्रामराज (1012-1027 ई.। यह दिद्दा का भाई था, काबुल के त्रिलोचनपाल का समकालीन), 128. हरिराज (केवल 22 दिन), 129. अनंतदेव (1027-1062 और 1062-1078 ई.। अनंतदेव को 1062 ई. में कुछ दिनों के लिए राजगद्दी से अलग रखा गया था, लेकिन वापस सत्ता प्राप्त की।), 130. कलश या रणादित्य (पंडित और कवि, 1078-1088 ई.), 131. उत्कर्ष (केवल कुछ दिन), 132. हर्ष (1088-1110 ई.)।

अग्निवंश या ब्रह्मक्षेत्र राजा : 133. उच्चल (कुछ दिन), 134. शंखराज (1110-1120 ई.), 135. सुस्सल (1120-1127 ई.), 136. जयसिंह (1127-1154 ई.। कल्हण ने राजतरंगिणी में इसी जयसिंह तक का इतिहास दिया है।)

प्रेषक - जे. एन. जौहरी

सुरेंद्र वर्मा कृत 'कैद-ए-हयात' नाटक के मिर्ज़ा ग़ालिब

हिंदी नाट्यजगत में सुरेंद्र वर्मा का महत्त्वपूर्ण योगदान है। अपने नाटकों से हिंदी रंगमंच को समृद्ध करने वाले सुरेंद्र वर्मा प्रसिद्ध विशिष्ट नाटककार हैं। सुरेंद्र वर्मा का 'कैद-ए-हयात' नाटक सुप्रसिद्ध शायर मिर्ज़ा गालिब की पारिवारिक जटिलता, सृजनात्मक तनाव एवं आर्थिक दबाव की सशक्त अभिव्यंजना करता है। इसके साथ ही सृजनात्मकता के बने-बनाये, रूढ़ ढाँचे को तोड़कर नवसृजन करने वाले एक रचनाकार के अंतर्जगत को भी बखूबी इंगित करता है। सुरेंद्र वर्मा ने मिर्ज़ा और उमराव के पति-पत्नी संबंधों की शुष्कता का चित्रण करते समय कातिबा और ग़ालिब के नाजुक रिश्ते को भी स्पर्श किया है। विवेच्य नाटक में नाटककार ने मिर्ज़ा गालिब की विवशता, दीवानगी, आत्मपीड़ा, टूटन आदि का सूक्ष्म अंकन करते समय रचनाकार के अंतर्मन को खोलकर रखा है। वे जिन परिस्थितियों और घटनाओं से गुजरे वे निश्चित ही काफी घुटनभरी एवं तनावपूर्ण रही हैं। उनका पारिवारिक जीवन तनावपूर्ण था। उनकी पत्नी उमराव ने कभी उन्हें समझने की कोशिश नहीं की। उन दोनों की संतानें हुई पर उनमें से एक भी बची नहीं। इसके साथ ही मिर्ज़ा की प्रेमिका कातिबा के कारण भी पति-पत्नी के बीच हमेशा तनाव बना रहता है। ग़ालिब की इच्छा है कि उमराव उसे स्वतंत्र छोड़ दे, लेकिन यह बात वह उसके सामने कह नहीं पाता। नाटक के अंत में जब उमराव दोनों के बीच के संबंधों में किसी चीज का वास्ता देकर कातिबा के पास जाने से रोकना चाहती है तब ग़ालिब बेझिझक होकर अपने मन का हाल बयाँ कर देते हैं-- 'वह चीज कब थी बेगम'[1] ग़ालिब के इस कथन से दोनों के बीच के रिश्ते की शुष्कता एवं रिक्तता स्पष्टता से उजागर होती है।

मिर्ज़ा के तनाव का एक और कारण यह है कि लोग उनकी शायरी को जान-बूझकर समझना ही नहीं चाहते। उनकी शायरी को वे उलझा हुआ महसूस करते हैं तब अपने भीतर के तनाव और घुटन को स्पष्ट करते हुए मिर्ज़ा कहता है-- 'ऐसा महसूस होता था, जैसे मैंने कोई खोल ओढ़ रक्खा है या मेरे इर्द-गिर्द एक गहरी खाई है, जिससे मैं लोगों के नजदीक नहीं जा सकता।.....घर के बाहर मैं अजूबा था, घर के अंदर अजनबी... मुझे कहीं चैन नहीं था। हर तरफ घुटन, हर सिम्त अँधेरा।'[2] मिर्ज़ा के इस कथन से उसके मन के भीतर के तनाव एवं घुटन की खुलकर अभिव्यक्ति हुई है।

'कैद-ए-हयात' नाटक में एक रचनाकार की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की विवशता, उलझन एवं आत्मपीड़ा मिर्ज़ा ग़ालिब के माध्यम से स्पष्ट हुई है। प्रस्तुत नाटक का प्रमुख पात्र मिर्ज़ा गालिब सृजनशील और कलानुरागी है परंतु उसके आस-पास की बाह्य परिस्थितियाँ उसकी अभिव्यक्ति के समक्ष अनेक समस्याएँ खड़ी कर देती हैं। मिर्ज़ा की दिक्कत

यह है कि लोग उसकी शायरी को जानबूझकर समझना ही नहीं चाहते और उसकी शायरी को उलझा हुआ महसूस करते हैं। प्रचलित परिपाटी तथा औरों से भिन्न होने के कारण मिर्ज़ा की शायरी को कभी कोई दाद नहीं मिली। अपने रचना कर्म पर लगाये गए गलत आरोपों के बारे में मिर्ज़ा कहता है कि गलती मेरे कलाम (शायरी) में नहीं बल्कि लोगों की समझ में है। अपनी इस व्यथा को कातिबा के सम्मुख प्रकट करते हुए वह कहता है कि "...मैं लाजवाब शायर हूँ-- इस बात को सिर्फ दो लोग तस्लीम करते हैं.. मैं और तुम।.. बाकी सारा जमाना मुझ पर उँगलियां उठाता है। दिक्कतपसंदी और मोहमलगोई के इल्जाम लगाता है।.... कभी चैन पाता हूँ मैं? कभी सुकून मिलता है मुझे?"[3] ग़ालिब के प्रस्तुत संवादों से उसकी व्यथा, वेदना और उसकी आत्मपीड़ा की तीव्र अभिव्यक्ति हुई है।

सुरेंद्र वर्मा ने मिर्ज़ा ग़ालिब की विवशता और अकेलेपन की पीड़ा को बड़ी सूक्ष्मता से आलोकित करने का प्रयास किया है। तीन साल के बाद शहर में लौटने पर एक ओर मिर्ज़ा के मन में कातिबा से मिलने की चाहत है तो दूसरी ओर घर से बाहर निकलने पर पकड़े जाने का डर भी। अतः मिर्ज़ा को घर में कैद होकर अकेला रहना पड़ता है। उस समय शीरीं से मिर्ज़ा को मालूम होता है कि बीमार पड़ने के कारण कातिबा की हालत बहुत चिंताजनक हो गयी है। वह कातिबा का हाल जानने के लिए अपने मित्र कल्लू को भेज देता है। कल्लू कातिबा को मिलकर वापस आने के बाद बताता है कि कातिबा मिर्ज़ा के इंतजार में अपना दम तोड़ चुकी है। मिर्ज़ा के साथ घटी हुई यह घटना उसका सब कुछ छीन लेती है और उसे हमेशा के लिए अकेला बना देती है। कातिबा के चले जाने के बाद ग़ालिब अपने आप को अजनबी और अकेला महसूस करता है।

सुरेन्द्र वर्मा ने अपने 'कैद-ए-हयात' नाटक में मिर्ज़ा ग़ालिब की ऊब तथा उसके पागलपन की अत्यंत मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति की है। शेरो शायरी की महफिलों में अनेक के साथ रहनेवाला शायर एक महीने से घर में अकेला दिन गुजार रहा था। अकेले रहने के कारण मिर्ज़ा ऊब चुका था। अपनी पागलपन की स्थिति को वह इस प्रकार सूचित करता है कि रातभर नींद नहीं आयी, जागकर उठने के बाद बचपन से अभी तक की बातें याद की गयीं, बोस्ताँ पढ़ा, उसे कितनी बार पढ़ा यह याद किया, कमरे में चहल कदमी की, थक जाने पर बैठ गया, बैठे-बैठे गली में आते-जाते लोगों की आहटें सुनी, अपने कमरे में दीवारों की दरारें गड्ढ़े, छत इत्यादी का निरीक्षण करने के बाद कमरे की लंबाई-चौड़ाई जानी फिर कदमों को गिनते हुए घर में ही घूमते-घूमते इतने कदम चलने पर बाहर कहाँ तक पहुँच सकता हूँ, इसका अंदाजा लगाया आदि बताते हुए वे भावुक हो उठते हैं। ग़ालिब के इन सभी क्रियाव्यापारों से उसकी ऊब एवं पागलपन की खुलकर अभिव्यंजना हुई है।

'कैद-ए-हयात' नाटक में सुरेन्द्र वर्मा ने मिर्ज़ा ग़ालिब की मनोदशाओं का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से रेखांकन किया है। नाटक में चित्रित मिर्ज़ा ग़ालिब परिस्थिति एवं समाज से टकराकर अंत में टूटता हुआ नजर आता है। बढ़ते कर्ज के बोझ के कारण ग़ालिब घर में कैद होकर रहते थे। ग़ालिब कातिबा को मिलना चाहते हैं तब पत्नी उमराव उन्हें तीखे शब्दो में चुनौती देती है- "तो फिर यह भी जान लीजिए कि आज आपने दहलीज के बाहर कदम रखा तो हमारे बीच कोई चीज हमेशा के लिए टूट जाएगी।"[4] उमराव द्वारा दी गयी चुनौती के सामने हारकर ग़ालिब कातिबा को आखरी बार भी मिल नहीं सके। पति-पत्नी का रिश्ता टूट जाने के भय के कारण अपने दिल के रिश्ते की कुर्बानी देते हैं। कातिबा के चल बसने की खबर सुनने के बाद ग़ालिब पिंजड़े में बंद पंछी की भाँति पूरी तरह से टूट जाते हैं। कातिबा के मर जाने पर ग़ालिब की दुनिया ही उजड़ जाती है। नाटककार सुरेंद्र वर्मा द्वारा प्रस्तुत इस नाटक में मिर्ज़ा ग़ालिब की मनोदशाओं

का सूक्ष्म एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण हुआ है।

संदर्भ

1. 'सुरेंद्र वर्मा के नाटकों में आधुनिकता बोध', डॉ. विजय पाल, नीरज बुक सेंटर, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2013, पृष्ठ क्र.114। **2.** 'सुरेंद्र वर्मा के नाटकों का अनुशीलन', डॉ. जयश्री सिंह, ज्ञान प्रकाशन, कानपुर, प्रथम संस्करण 2013, पृष्ठ क्र.141। **3.** 'कैद-ए-हयात', सुरेंद्र वर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1993, पृष्ठ क्र. 54। **4.** 'सुरेंद्र वर्मा के नाटकों में आधुनिकता बोध', डॉ. विजय पाल, नीरज बुक सेंटर, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2013, पृष्ठ क्र.91।

श्री नानासाहेब रामदास चोरमले
शोधछात्र - हिंदी विभाग, सावित्रीबाई फुले पुणे विश्वविद्यालय, पुणे
मो. 9011685035

एक हीरों जड़ा व्यक्तित्व : सर डॉ. सच्चिदानन्द सिन्हा

सर डॉ. सच्चिदानन्द सिन्हा की ख्याति भारतीय बुद्धि जीवियों के बीच सूर्य की तरह चमकी। ब्रिटिश वायसराय उनके सामने नतमस्तक थे। सम्राट की बड़ी से बड़ी उपाधि को भी अपने लिए तुच्छ ही समझा। पं. मोतीलाल नेहरू, पं. मदन मोहन मालवीय और पंचनद के 32 भाषाओं के विश्व प्रसिद्ध पत्रकार संत निहाल सिंह उनके आत्मीय साथी थे। डॉ. सिन्हा एक साथ भविष्यद्रष्टा, विश्व प्रसिद्ध पत्रकार, लेखक, सम्पादक, आइ.सी.एस. के परीक्षक, पटना विश्व विद्यालय के वाइस चांसलर, कलकता और इलाहाबाद कोर्ट के बैरिस्टर, बिहार में भीष्म पितामह उपाधि से विभूषित, इम्पेरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल के सदस्य, संयुक्त प्रांत के उपराज्य की कार्यपालिका परिषद के वित्त सदस्य, वर्तमान बिहार के अग्रगण्य निर्माता और संविधान निर्मात्री सभा के प्रथम अस्थायी अध्यक्ष थे।

डॉ. सच्चिदानन्द सिन्हा का जन्म बिहार के शाहाबाद जिले के मुरारग्राम में 10 नवम्बर सन् 1871 ई. में हुआ था। डॉ. सिन्हा का परिवार तथा वंश अत्यन्त प्रतिष्ठित रहा है। आप के पितामह बख्शी शिवप्रसाद सिन्हा डुमरांव महाराजाधिराज के दरबार में रिवेन्यू अधिकारी पद पर आसीन थे। आप के पिता बख्शी रामयाद सिन्हा विद्या की नगरी काशी के स्वनामधन्य ख्याति प्राप्त वकील थे। आप के पिताश्री पश्चिमी प्रान्त में डिप्टी कलक्टर भी रहे थे। अपार लक्ष्मी और अगाध सरस्वती का संगम इस परिवार में था। रीतिकालीन रीतिमुक्त कवि वृन्द ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'वृन्द सतसई' में लिखा है-- कुल सपूत जान्यों पड़ै, लखि सब लच्छन गात। होनहार वीरवान के, होत चीकने पात।। सच्चिदानन्द ऐसे ही थे, उनकी बुद्धि निर्मल मणि के समान स्वच्छ थी। इन्होंने अपनी अद्‌भुत प्रतिभा, क्षमता, नम्रता, निष्कपटता से अपने अध्यापक को मोहित कर लिया था।

पाँच वर्ष की उम्र में उजली दाढ़ी वाले मौलवी साहब के हाथ इन्हें सौप दिया गया। दो वर्षों तक उर्दू-फारसी रटते रहे। पुनः आरा जिला स्कूल में भर्ती हुए। उस जिला स्कूल में जितनी भी परीक्षाएँ दीं, सबों में प्रथम ही रहे। फिर पटना के टी.के.घोष एकेडमी में भर्ती हुए। वहाँ से सन् 1888 ई. प्रवेशिका परीक्षा (एंट्रेस) प्रथमश्रेणी में सर्वप्रथम रहे। एन्ट्रेंस परीक्षोपरान्त जुलाई, 1888 ई. में पटना कॉलेज में नाम लिखाया। सतत अध्ययन में जुट गये। मनमौजी और ज्ञान के पिपासु छात्र सच्चिदानन्द सितम्बर 1889 ई. में सिटी कॉलेज कोलकाता में दाखिल हुए। एफ. ए. उन दिनों आइ. ए. के बदले में था। कोलकाता में अध्ययन करते-करते उनके मन मानस में विलायत में पढ़ने की तीव्र भावना उमड़ने लगी। उनका कहना था कि पढ़ाई तो सात समुद्र पार के विलायत में होती है। जिसे कुछ बनना हो, अपने लिये या अपने देश के लिये कुछ करना हो, वह वहाँ जाए।

देखो, राजा राममोहनराय जी को, कैसे चमक रहे हैं? सच्चिदानन्द जी के ये विचार थे- "अंग्रेज बहुत बड़े हैं दुनिया में पर वे क्यों और कैसे इतने बड़े हुए, इसकी थाह बिना उनके यहाँ जाये ठीक से कैसे लग सकती है?"

अपने पिता से छिपकर, पं. मदन मोहन मालवीय सहित कुछ गण्यमान्य व्यक्तियों की सत्प्रेरणा से बैरिस्ट्री करने के लिये 26 दिसम्बर, 1889 ई. को विलायत के लिये रवाना हो गये। समुद्री जहाज से आपने पिता जी को तार लिखा- "मैं लन्दन जा रहा हूँ। खर्च के लिये रुपये लन्दन भेज दें।" पिता जी को तार मिलने पर जान में जान आई। रुपये तो उसे भेजने ही हैं। 5 फरवरी, 1890 ई. को लन्दन पहुँचे। वहाँ नार्थवुड क्लब के एक महत्वपूर्ण सदस्य हो गये। 1890 ई. अप्रैल में ही लन्दन के 'मिडिल टेम्पल' में कानून पढ़ने के लिये अपना नाम लिखा लिया। 'मिडिल टेम्पुल' में भी अपनी किताबों का कीड़ा भर बने रहे, ऐसी बात नहीं थी। पुस्तकों के अध्ययन के प्रति अनुराग जो इनमें था, इसलिए तो पागल बने रहते थे पुस्तकों के पीछे। लन्दन में वे धरना दिये रहते थे प्रकाशकों के यहाँ, अच्छी-अच्छी पुस्तकों के लिए। नई पुस्तक निकली नहीं कि सच्चिदानन्द ने खरीदी। नाम तो लिखाया था कानून के स्कूल में, पर कोई पाबन्दी तो थी नहीं कि कानून की किताबों तक ही अपने ज्ञान की परिधि को सीमित रखते। उनकी पढ़ाई का मुख्य ध्येय सिर्फ परीक्षोत्तीर्ण भर होना थोड़े ही था! सिन्हा साहब बार एट. लॉ. का मनोयोग पूर्वक अध्ययन कर रहे थे किन्तु पत्रकारिता और राजनीति से उनका गहरा लगाव था। इंगलैंड में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की ब्रिटिश समिति के वे एक सक्रिय सदस्य थे। विद्रोह का बीज तो वहीं लन्दन में ही उनके हृदय में अंकुरित हो चुका था। विद्रोह राजनीतिक विद्रोह, सामाजिक विद्रोह और उन सारे अन्यायों के विरुद्ध विद्रोह जिनमें दमन की बू हो। 26 जनवरी, 1893 ई. को 'मिडिल टेम्पुल' में सच्चिदानन्द जी को बैरिस्ट्री की डिग्री प्रदान की गई। पन्द्रह-बीस ही दिनों के बाद वे भारत के लिये चल पड़े। वे बिहार के प्रथम व्यक्ति थे जो बैरिस्ट्री की शानदार डिग्री के लिये इंग्लैंड गये थे। इंग्लैंड से लौटने के बाद जब उनसे समुद्र पार करने के तथाकथित पाप के प्रायश्चित करने को कहा गया तब उन्होंने साफ इंकार कर दिया।

उल्लेखनीय है कि तत्कालीन सामाजिक नियमों का उल्लंघन कर कायस्थ समुदाय की एक उपजाति में तत्कालीन पंजाब की राजधानी और विद्या की नगरी लाहौर के विख्यात बैरिस्टर श्री सेवाराम की एकमात्र इकलौती पुत्री राधिका देवी के साथ 25 जुलाई, 1894 ई. को विवाह किया। राधिका भी अपने पिता के साथ लन्दन में रह चुकी थीं।

बार-एट. लॉ में उत्तीर्ण होकर सिन्हा साहब कलकत्ता हाईकोर्ट में एडवोकेट के रूप में वकालत शुरू की।

कलकत्ता प्रवास के दिनों में उन्हें मलेरिया हो गया था। मलेरिया होने पर आप इलाहाबाद चले गए। जहाँ उनका मलेरिया का इलाज हो जाने के बाद इनके डॉक्टर ने इनसे कहा कि अब बस एक टॉनिक देंगे और अगले दिन पंडित मोतीलाल नेहरू के घर लिवा ले गए। पंडितजी के साथ आधे घंटे रहने के बाद सिन्हा साहब को ऐसा लगा जैसे युगों से अभिन्न हैं। अन्त में जब सिन्हा साहब चलने को हुए तो पंडित मोतीलाल जी ने आग्रह किया कि वे भोजन कर जायें। सिन्हा साहब परहेजी खाना खाते थे जो सिन्हा साहब के घर पर बना था। वह बना भोजन उन के घर से मंगाया गया और दोनों ने एक साथ भोजन किया। जीवन पर्यन्त सिन्हा साहब की मैत्री पंडित जी के साथ रही।

पत्रकारिता प्रकाश की ज्योति के समान समाज में रहने वाले जनमानस का मार्ग दर्शन करती है। समाचार-पत्र ज्ञान का प्रचारक, मनोरंजन दाता तथा जन-शिक्षण का पुरोधा है। इसी सोच के कारण सिन्हा साहब का पत्रकारिता से लगाव था। आप का मन

बराबर 'समाचार पत्र' प्रारम्भ करने और 'पृथक बिहार' (बिहार उस समय बंगाल-उड़ीसा से संयुक्त था) का आन्दोलन चलाने के लिये व्यग्र हो उठा। सच्चिदानन्द सिन्हा ने 'बिहार हेराल्ड' के जवाब में जनवरी, 1894 ई. में 'बिहार टाइम्स' नामक पत्र निकाला। इस साप्ताहिक पत्र के सम्पादक नव बिहार के स्वप्नद्रष्टा बाबू महेश नारायण (1-8-1858 से 1-7-1907) थे। वे लेखनी के बादशाह कहलाते थे। उनके अनुभव बड़े ठोस थे और उनकी कलम में गजब की शक्ति थी। 'बिहार टाइम्स' ने बिहार निर्माण के अन्दोलन का संचालन करते हुए पत्रकारिता को भी जन्म दिया। सन् 1912 ई. के बाद यह पत्र 'बिहारी' दैनिक पत्र नाम में परिवर्तित हो गया। पुनः सच्चिदानन्द जी के अन्तःकरण में उन दिनों जातीय गौरव की पवित्र भावना हिलोरें लेने लगी। जुलाई, 1900 ई. में 'कायस्थ समाचार' पत्र निकाला। सम्पादक वे स्वयं थे। सन् 1903 ई. में 'कायस्थ समाचार' का नाम बदल कर 'हिन्दुस्तान रिव्यू' हो गया। इसी 'हिन्दुस्तान रिव्यू' में सिन्हा साहब ने मेधावी छात्र राजेन्द्र प्रसाद के संबंध में भविष्यवाणी की थी, जब राजेन्द्र प्रसाद ने सन् 1902 ई. में कलकत्ता विश्वविद्यालय के अन्तर्गत एन्ट्रेंस की परीक्षा में सर्व प्रथम स्थान प्राप्त कर बिहार भूमि का मुखोज्ज्वल किया था। इस आशय का उन्होंने एक नोट लिखा था, कि राजेन्द्र प्रसाद सरीखे प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति के लिए कोई भी वस्तु अप्राप्य नहीं है। मैंने कहा था कि हमलोग इस बात की भविष्यवाणी कर सकते हैं कि वे एक दिन भारतीय राष्ट्रीय महासभा के सभापति बनेंगे। कालान्तर में उनकी भविष्यवाणी सत्य साबित हुई। पुनः सन् 1903 ई. में इलाहाबाद से 'इंडियन पिपुल' नामक पत्र निकाला। अंग्रेजी पत्रकारिता के क्षेत्र में डॉ. सिन्हा ने नए मानदण्ड स्थापित किए।

डॉ. सिन्हा जी ने अपने अनवरत अध्ययन, विलक्षण प्रतिभा एवं अविश्रान्त साहित्य साधना के बल से अपने को साहित्य और पत्रकारिता जगत में उत्कर्ष के उत्तुंग शिखर पर सुप्रतिष्ठित कर दिया।

प्रसंगवश उल्लेखनीय है कि नाटककार, निबंधकार और भारतीय सिविल सेवा के सदस्य श्री जगदीश चन्द्र माथुर द्वारा रचित "दस तस्वीरें" के अन्तर्गत डॉ. सिन्हा के जीवन व्यक्तित्व की कुछ मनोहर झलकियां प्रस्तुत की गई हैं। वे लिखते हैं कि बहुत पहले की बात है शायद 1903-04 ई. की जब सिन्हा साहब का अंग्रेजी का मासिक पत्र "हिन्दुस्तान रिव्यू" नया ही था। दिल्ली से एक अपरिचित लेखक की रचना आई जिसमें "इसाई धर्म" की बेहद प्रशंसा थी। सिन्हा साहब थोड़ा हिचके, लेकिन लेख असाधारण था। उन्होंने छाप दिया। इस युवक लेखक हरदयाल की असाधारण लेखनी ने तहलका मचा दिया और कुछ दिनों बाद वह मेधावी पुरुष अपनी प्रखर विचार शैली और उग्र राजनीति के कारण प्रसिद्ध हो गया। कुछ समय बाद सिन्हा साहब किसी कार्यवश दिल्ली गए, तो स्टेशन पर एक व्यक्ति ने मिलते ही उनके चरण छुए कहा- "मैं ही हरदयाल हूँ।" हरदयाल विलक्षण स्मरणशक्ति से संपन्न भारतवर्ष के क्रांतिकारियों में अग्रणी, गदर पार्टी के कर्णधार, अंग्रेजी राज के कट्टर दुश्मन हमेशा के लिये सिन्हा साहब के स्नेह पात्र बन गये।"(दस तस्वीरें, पृ. 123-24)। डॉ. सिन्हा की पत्रकारिता की कला से प्रभावित होकर बिहार के तत्कालीन राज्यपाल श्री एम. एस. अणे ने कहा कि "पचास वर्षों के अन्दर चार महान पत्रकारों में से एक डॉ सच्चिदानन्द सिन्हा थे जिनका उल्लेख पत्रकारिता के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में करना होगा। पत्रकारिता के क्षेत्र में इनकी महत्ता को हम माप ही नहीं सकते। स्वयं तो जो कुछ भी किया सो किया ही, साथ-साथ औरों को भी उठाते रहे ऊपर।" सन 1927 ई. में जो 'अंतर्राष्ट्रीय पत्रकार सम्मेलन' का भव्य आयोजन 'लीग ऑफ नेशन' द्वारा जेनेवा में हुआ था उसमें उन्होंने ही हिन्दुस्तान का प्रतिनिधित्व किया था।

डॉ. सिन्हा दूरदर्शी थे। उनके व्यक्तित्व का विकास उत्तरोत्तर होता रहा था। जनवरी 1910 ई. में 'इम्पेरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल' के सदस्य वे चुने गये। तब बिहार की समस्या को उन्होंने केन्द्रीय स्तर पर उठाया। कोशिशें कामयाब हुई। विधि सदस्य बनने के बाद अली इमाम ने गवर्नर जनरल से बिहार प्रान्त के गठन का आग्रह किया। गवर्नर जनरल हार्डिग ने 12 दिसम्बर, 1911 ई. को दिल्ली दरबार में पृथक बिहार एवं उड़ीसा प्रान्तों के गठन की घोषणा की। सन् 1912 ई. में इस नए प्रान्त का विधिवत उद्घाटन हुआ। इसी से वे वर्तमान बिहार के अग्रगण्य निर्माता कहे गये। सन् 1913 में उन्होंने अवध और आगरा प्रोविंशियल कांफ्रेंस की अध्यक्षता की। पटना विश्वविद्यालय नाथन कमिटी के सदस्य मनोनीत हुए। सन् 1936 ई. में पटना विश्वविद्यालय के पहले गैर सरकारी कुलपति बने और 9 वर्षों तक इस पद पर रहे।

सन् 1924 ई. में इन्होंने पत्नी की याद में राधिका सिन्हा इंस्टीच्यूट और सच्चिदानन्द सिन्हा लाइब्रेरी की स्थापना की। अपनी कमाई का अधिकांश धन इन्होंने पुस्तकों के संग्रह करने में लगा दिया। इस पुस्तकालय में हजारों पुस्तकें हैं और देश-विदेश के सैकड़ों पत्र मँगाये जाते हैं। बिहार सरकार ने इसे प्रान्त का प्रधान केन्द्रीय पुस्तकालय बनाया है।

अपने पुस्तकालय की प्रायः सभी पुस्तकों को एक बार अवश्य पढ़ लिया करते थे। पुस्तक प्रेमी डॉ. सिन्हा ने अपनी असीम मेधाशक्ति से पाँच अनमोल पुस्तकें लिखीं जो अपनी तरह ही अकेली हैं-- 1. दि पार्टीशन ऑफ बंगाल या दि सेपरेशन ऑफ बिहार (1906 ई.), 2. स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स (द्वितीय संस्करण-1942 ई.), 3. काश्मीर दि प्लेग्राउंड ऑफ एशिया (तृतीय संस्करण-1947 ई.), 4. एम एमिनेंट बिहार कन्टमपररीज (1944 ई.), 5. इकबालः दि पोयट एण्ड हिज मेसेज (1947 ई.)।

डॉ. सिन्हा ठंडे मिलनसार और विनोदी प्रकृति के व्यक्ति थे। ऐसे खुश-मिजाज और दिल्लगी पसन्द व्यक्ति थे कि बात-बात में हँसाया करते थे। बंगभूमि के श्री सुरेन्द्र बनर्जी, सर डॉ. आशुतोष मुखर्जी जिन्हें लोग 'बंगाल टाइगर' भी कहते हैं, लार्ड सत्येन्द्र प्रसन्न सिन्हा (लार्ड एस. पी. सिन्हा), श्री मोतीलाल घोष, श्री विपिन चन्द्र पाल और श्री विनोद मित्र, उनके अंतरंग मित्र थे। वैदुष्य, वैदग्ध्य, वाणी और विनय का सौन्दर्य यदि कहीं समवेत रूप में देखने और सुनने को मिला तो वह भव्य स्वरूप सर सच्चिदानन्द सिन्हा का था। उनकी असीम विद्वत्ता के कारण ही इलाहाबाद विश्वविद्यालय, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय और पटना विश्वविद्यालय ने सर्वोच्च उपाधि डी. लिट्, एल. एल., डी. डी. लिट् की मानद उपाधियों से अलंकृत कर अपने को गौरवान्वित किया। उनकी अगाध विद्वत्ता, प्रचुर पांडित्य और चुम्बकीय व्यक्तित्व की धाक इतनी बड़ी थी कि आई. सी. एस. (इंडियन सिविल सर्विस) की प्रतियोगिता परीक्षा जो अपने समय की सबसे बड़ी परीक्षाओं में से एक गिनी जाती थी, के परीक्षकों के बोर्ड में भी आप को रखा गया था।

विधिवत स्वतंत्रता की घोषणा के पूर्व संविधान निर्मात्री सभा 9 दिसम्बर, 1946 को पार्लियामेंट के केन्द्रीय कक्ष में बैठी। उस दिन दिल्ली में भारतीय स्वतंत्रता के इतिहास का स्वर्ण दिवस शान से दमक रहा था। दिल्ली के विधायिका सभा भवन में भारत के उज्ज्वल नर-रत्नों का खचाखच मेला था। भारतीय विधायिका सभा (इंडियन कौन्स्टिच्युयंट एसेम्बली) की प्रथम बैठक थी। सभा शान्त थी। कांग्रेस अध्यक्ष आचार्य कृपलानी द्वारा सर्वसम्मति से सर डॉ. सच्चिदानन्द सिन्हा एसेम्बली के सर्व प्रथम अस्थायी सभापति घोषित हुए। उन्हीं के सभापतित्व में विद्वत्तापूर्ण भाषण हुए। उर्दू के महान शायर सर डॉ. इकबाल की प्रसिद्ध कविता "सारे जहाँ से अच्छा हिन्दुस्ताँ हमारा" की पंक्तियाँ बोली गयी।

उन्होंने अपने उद्घाटन भाषण के अन्त में कहा--

"मैं आप लोगों को ज्यादा देर तक नहीं रोके रखूंगा। अगर मैं चाहूं तो कल सुबह तक आप को रोके रख सकता हूँ, क्योंकि इस महती सभा में जो लोग अभी यहाँ मौजूद हैं, उनमें मैं ही एक ऐसा व्यक्ति हूँ जिसे डॉ. राजेन्द्र प्रसाद को गत 55 वर्षों से घनिष्ठ रूप से जानने का सौभाग्य प्राप्त है।" आज मुझे इस बात का गौरव है और मेरे जीवन का यह महानतम गौरव है कि मैं उन्हें विधान परिषद् का प्रथम भारतीय स्थायी सभापति कहकर सभापति के आसन पर आसीन करता हूँ। अब मैं सभापति का आसन खाली करता हूँ और इस महती सभा की ओर से डॉ. राजेन्द्र प्रसाद से अनुरोध करूंगा कि वे आकर इसे सुशोभित करें। वे सर्वथा इसके योग्य हैं।

उल्लेखनीय है कि जब संविधान बन कर तैयार हो गया और आवश्यक था कि एसेम्बली के समस्त सदस्यों के संविधान-पत्र पर हस्ताक्षर हों। उस समय डॉ. सिन्हा पटना में बीमार पड़े हुए थे और हस्ताक्षर करने के लिए उनका नई दिल्ली पहुँचना असम्भव था जबकि प्रथम अस्थायी अध्यक्ष के हस्ताक्षर भी अनिवार्य थे।

तब स्वतंत्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति बने, देशरत्न कायस्थ-रत्न डॉ. राजेन्द्र प्रसाद संविधान को लेकर पटना गये और उन्होंने सिन्हा साहब के श्रद्धा से चरण छू कर उनसे आशीर्वाद ग्रहण किया। फिर 14 जनवरी, 1950 ई. को उन्होंने भारत के संविधान पर शान के साथ पारकर फॉउन्टेन पेन से शानदार हस्ताक्षर किए।

साहित्यिक जीवनचरित 'दस तस्वीरें' के तेजस्वी लेखक श्री जगदीशचन्द्र माथुर ने अपनी अमृतमयी लेखनी से क्या सुन्दर लिखा है- "जिन्दगी की सवारी कोई बोरे की तरह लदकर करता है, कोई जान पर खेल कर सरकस के नट की तरह और कोई-कोई गंगा की मौजों पर लरजते बजरे पर शान से तकिया लगाकर बैठे उस रईस की तरह, जिसके मुँह में चांदी के कलापूर्ण हुक्के की नाली हो, तटवर्ती दृश्यों पर जो निगाह भी डालता हो और रिमार्क भी कसता हो, और जो एक चक्रवर्ती महाराज की भाँति भ्रूनिक्षेप सहित अभयदान तथा आदेश प्रदान करता हो। डॉ. सच्चिदानन्द सिन्हा इसी श्रेणी के जन्मजात चक्रवर्ती सर्वेक्षक थे। अनुभवों की महफिल उनके आंगन में जमती ही रहती, कभी उखड़ी ही नहीं। जमाने गुजर गए। लगभग अस्सी ऋतु परिवर्तनों की अटखेलियां देखीं, लेकिन कोई ऊब नहीं, कोई मलाल नहीं। बीती बात उन्हें उलझा नहीं पाती और आगे आनेवाला कल उन पर हावी नहीं हो पाता। क्षण की मर्यादा को ही डंके की चोट पर घोषित करते।"

इस नर-रत्न का 6 मार्च, 1950 ई. को अवसान हो गया। बिहारियों ने उन्हें सहर्ष 'भीष्म पितामह' कह कर संबोधित किया। किसी कवि ने भोजपुरी लोकभाषा में इस महारथी के बारे में ठीक ही कहा है--

"विहँसत फूल धरती मइया के, तू अनमोल धरोहर।

सुरसती के हृदय-हार तू, गमकत चमकत मोहर।।"

डॉ. सिन्हा जी कहा करते थे -

"जो करो वह ठोस करो और ऐसा
करो जो दूसरों के लिये कुछ
उदाहरण का काम कर सके"

डॉ. विद्यानन्द 'ब्रह्मचारी'
'रामतीर्थ कुंज'
ग्राम+पो. - राँकोडीह
वाया-कोशी कॉलेज-851205
जिला-खगड़िया (बिहार)

स्वत्वाधिकारी भारतीय विद्या मन्दिर, कोलकाता के लिए सचिव शंकरलाल सोमानी द्वारा कल्याणी प्रिंटर्स, अलखसागर रोड, बीकानेर के लिए कंप्यूटर-एन-मीडिया, 25ए, सी.आर. एवेन्यू, कोलकाता-72 में मुद्रित एवं भारतीय विद्या मंदिर से प्रकाशित। संपादक-डॉ. बाबूलाल शर्मा।

भारतीय विद्या मंदिर द्वारा प्रकाशित ग्रंथ

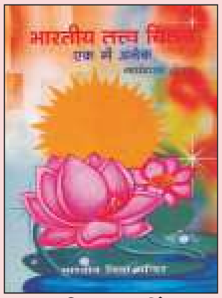

भारतीय तत्त्व चिंतन
माधोदास मूंधड़ा
मूल्य 150/- पृ.सं. 190

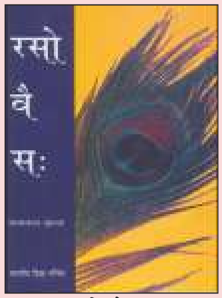

रसो वै सः
माधोदास मूंधड़ा
मूल्य 150/- पृ.सं. 165

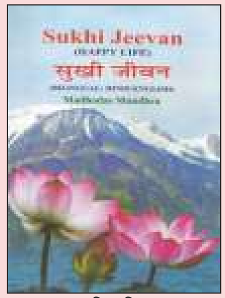

सुखी जीवन
माधोदास मूंधड़ा
मूल्य 275/- पृ. सं. 216

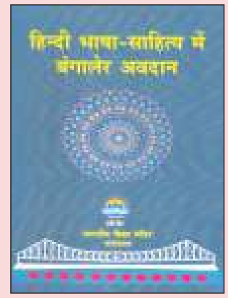

हिन्दी भाषा-साहित्य में बंगालेर अवदान
डॉ. बाबूलाल शर्मा
मूल्य 800/- पृ. सं. 352

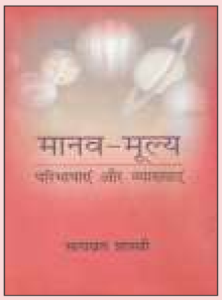

मानव मूल्य परिभाषाएं और व्याख्याएं
सत्यव्रत शास्त्री
मूल्य 550/- पृ. सं. 304

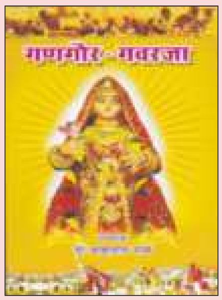

गणगौर-गवरजा
डॉ. बाबूलाल शर्मा
मूल्य 400/- पृ. सं. 264

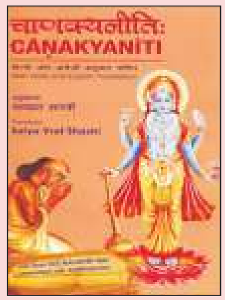

चाणक्यनीतिः
सत्यव्रत शास्त्री
मूल्य 295/- पृ.सं. 194

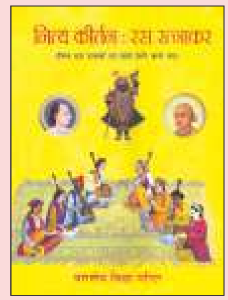

नित्य कीर्तन : रस रत्नाकर
मूल्य 900/-

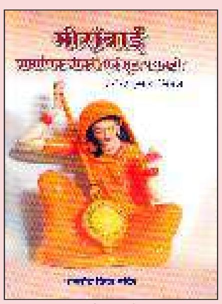

मीरांबाई
प्रामाणिक जीवनी एवं मूल पदावली
संपा. ब्रजेन्द्र कुमार सिंहल
मूल्य 900/- पृ.सं. 584

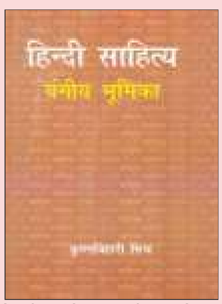

हिन्दी साहित्य बंगीय भूमिका
कृष्णबिहारी मिश्र
मूल्य 750/- पृ.सं. 551

श्रीरामकथा की कथा (प्रथम खण्ड)
आचार्य सोहनलाल रामरंग
मूल्य 600/- पृ. सं. 379

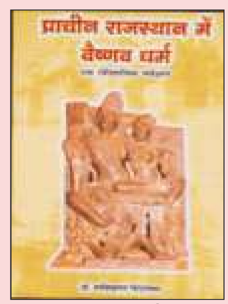

प्राचीन राजस्थान में वैष्णव धर्म
डॉ. सतीश कुमार त्रिगुणायत
मूल्य 550/- पृ. सं. 287

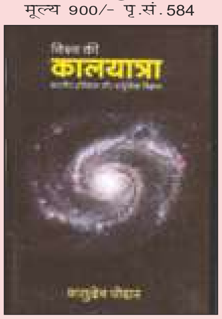

विश्व की कालयात्रा
डॉ. वासुदेव पोद्दार
मूल्य 700/- पृ. सं. 409

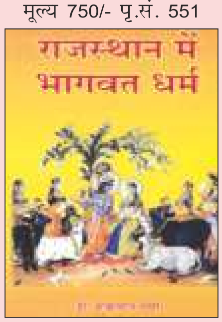

राजस्थान में भागवत धर्म
डॉ. बाबूलाल शर्मा
मूल्य 900/- पृ. सं. 468

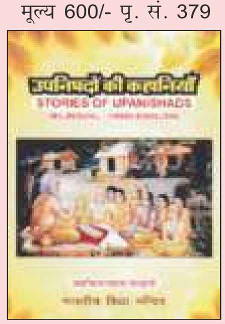

उपनिषदों की कहानियाँ
जयकिशन दास सदानी
मूल्य 400/- पृ. सं. 208

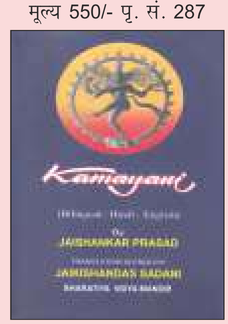

Kamayani
Tr. Jaikishandas Sadani
Price : Rs. 900/- Pages : 477

पुस्तकादेश हेतु संपर्क करें

शंकरलाल सोमानी, सिम्पलेक्स हाउस, 27, शेक्सपीयर सरणी, कोलकाता-700 017 मोबाइल : 09830559364 ई-मेल : shankar.somani@simplexinfra.com

From

BHARATIYA VIDYA MANDIR

12/1, Nellie Sengupta Sarani

Kolkata - 700087 *(W.B.)*

TO

G.D.M.
PUBLIC SCHOOL
Near, Govt. DIET Office, Pugal Road, Bikaner

Admission Open for Nursery to 10th

Session - 2023-24

G.D.M. Public School
Pugal Road, DIET. Office, Bikaner
(Rajsthan) Pin - 334004
E-mail : gdmpublicschool1342@gmail.com

M. 7977715540